विवेक-ज्योति
हिन्दी त्रैमासिक
वर्ष : २६ अंक १
रामकृष्ण मिशन
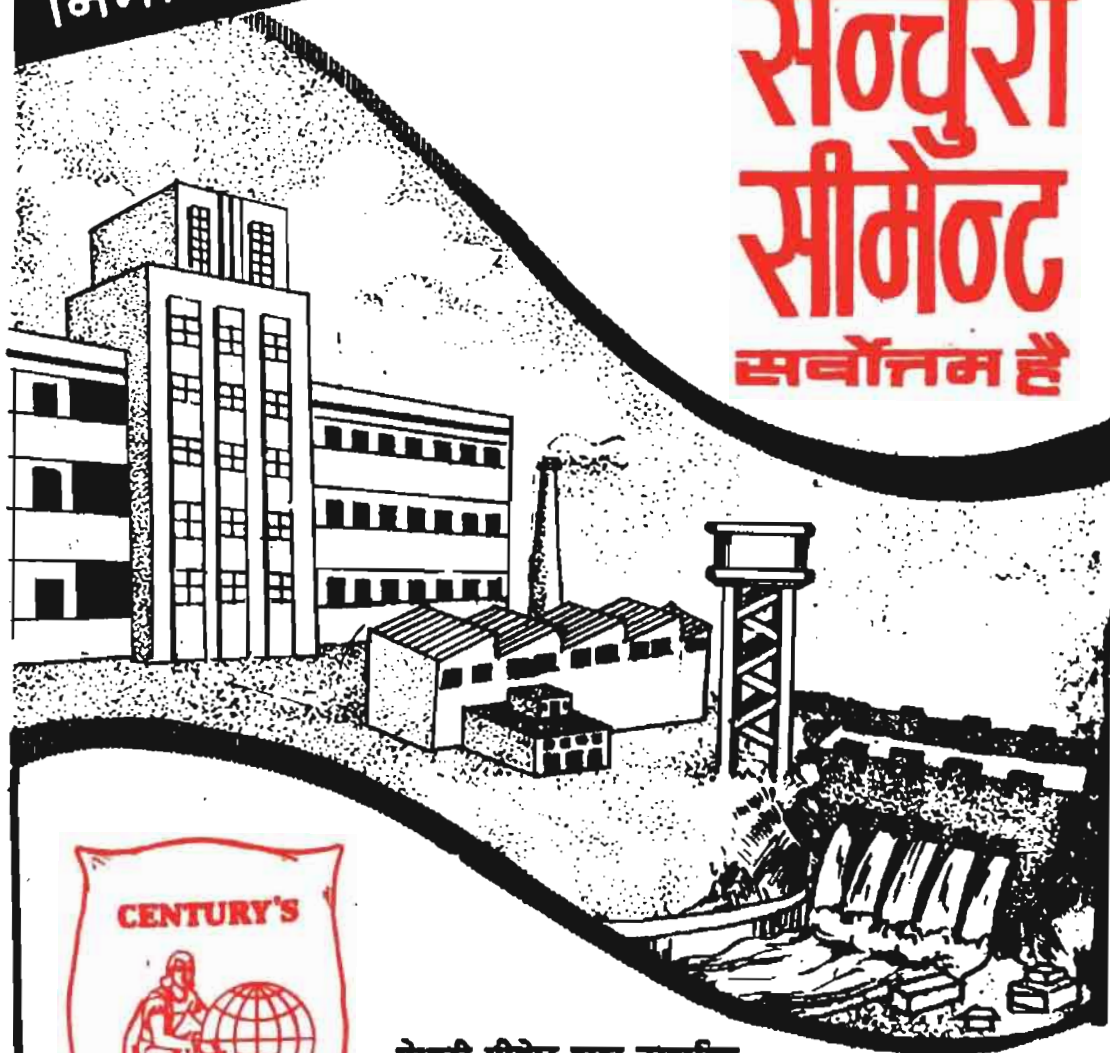
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी-फरवरी-मार्च

* १९८८ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक १०)

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

८०वीं तालिका

(३० नवम्बर १९८७ तक)

२८२३. श्री नारायण सिंह, फ्रीगंज, उज्जैन।
२८२४. श्री दीनदयाल नागेनिया, चीतापाली (बिलासपुर)।
२८२५. श्री विपिनकुमार नन्दा, सेहवा रोड, धमतरी।
२८२६. श्री जे. के. मोटवानी, बस्तर रोड, धमतरी।
२८२७. श्री एन. एस. मुदलियार, शंकर नगर, भोपाल।
२८२८. श्री कन्हैयालाल चौहान, सिमरिया कलाँ (नरसिंहपुर)।
२८२९. श्री अश्वनीकुमार वाधवानी, शास्त्री नगर, जयपुर।
२८३०. श्री के. सी. अग्रवाल, होटल दीप, बिलासपुर।
२८३१. श्री बी. सी. बाजपेई, शास्त्रीनगर, जयपुर।
२८३२. डा. दर्शनलाल गुप्ता, कुराली, रोपड़ (पंजाब)।
२८३३. श्री बाँके बिहारी वर्मा, हसदा (रायपुर)।
२८३४. श्री पी. जी. हालदार, माधवनगर, उज्जैन।
२८३५. श्री ज्ञानप्रकाश गुप्ता, भंगागढ़, गौहाटी।
२८३६. श्रीमती उर्मिला नन्द, शेख बाजार, कटक।
२८३७. श्रीमती अशोककुमारी शर्मा, सूर्य एन्क्लेव, नई दिल्ली।
२८३८. डा. विष्णुप्रसाद भक्तिदास सोलंकी, उना (जूनागढ़)।
२८३९. श्री ब्रजकिशोर धवन, टनकपुर (नैनीताल)।
२८४०. श्री अरुणकुमार पुरोहित, गरौठ (मन्दसौर)।
२८४१. श्री कालू शंकर त्रिपाठी, मांडल (भीलवाडा)।
२८४२. श्री रामकिशन व्यास, इचलकरंजी (कोल्हापुर)।
२८४३. श्री रजनीकांत बागडिया, मोरवी (राजकोट)।
२८४४. श्रीमती घनश्यामकुमारी बाई, अबरीद (बिलासपुर)।
२८४५. श्री पृथ्वीराज शर्मा, ठण्डी (गंगानगर)।
२८४६. श्री जयन्तकुमार मोड़तरा, सतनामीपारा, भिलाई-३।
२८४७. श्री दीपक वाधियानी, जमशेदपुर।
२८४८. श्रीमती अलका सिंह, गुडा हाउस, जौहरी बाजार, जयपुर।
२८४९. श्री केदारप्रसाद बडारया, चीचली (नरसिंहपुर)।
२८५०. श्री दुर्गाप्रसाद नामदेव, बैजनाथपारा, रायपुर।
२८५१. श्री मयाराम साहू, तेंदूकोना (रायपुर)।

२८५२. श्री संजय दीक्षित, राजा वार्ड, होशंगाबाद।
२८५३. श्री पंढरीनाथ बलीराम उरकुडे, आर्डनेंस फैक्टरी, चंद्रपुर।
२८५४. श्री महेन्द्रनाथ चतुर्वेदी, वडोदरा (गुजरात)।
२८५५. श्री रामगोपाल पोद्दार, बजाजखाना, बुरहानपुर।
२८५६. श्री सत्यनारायण गुप्ता, परदेशीपुरा, इन्दौर।
२८५७. श्री के. के. चतुर्वेदी, व्यास भवन, जबलपुर।
२८५८. श्री सीताराम वर्मा, दोंदेकला (रायपुर)।

O

'विवेक-ज्योति' का चौथा अंक विशेषांक

११ जनवरी, १९८८ को स्वामी विवेकानन्द की १२६वीं जन्मतिथि है। अतः १९८८ का पूरा वर्ष स्वामीजी के १२५वें जन्म-महोत्सव के रूप में विश्व में सर्वत्र मनाया जा रहा है। इस उपलक्ष में 'विवेक-ज्योति' का इस वर्ष का चौथा अंक (वर्ष २६, अंक ४) 'स्वामी विवेकानन्द विशेषांक' के रूप में निकाला जाएगा, जिसमें स्वामीजी पर कई नवीन, रोचक और तथ्यपूर्ण लेख पाठकों को पढ़ने को मिलेंगे। पृष्ठ संख्या २४० होगी और उसका मूल्य ५) होगा। कृपया पाठक एवं अभिकर्तागण यह नोट कर लें।

(फार्म ४ रूल ८ के अनुसार)

१.	प्रकाशन का स्थान	–रायपुर
२.	प्रकाशन की नियतकालिकता	–त्रैमासिक
३-५.	मुद्रक, प्रकाशक एवं संपादक	–स्वामी आत्मानन्द
	राष्ट्रीयता	–भारतीय
	पता	–रामकृष्ण मिशन, रायपुर
	स्वत्वाधिकारी	–रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ

स्वामी गम्भीरानन्द, स्वामी अभयानन्द, स्वामी भूतेशानन्द,
स्वामी तपस्यानन्द, स्वामी हिरण्मयानन्द, स्वामी गहनानन्द,
स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी सत्यघनानन्द,
स्वामी गीतानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी प्रभानन्द,
स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द,
स्वामी तत्त्वबोधानन्द।

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर) **स्वामी आत्मानन्द**

अनुक्रमणिका

आवरण चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२००९ (म.प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २६] जनवरी-फरवरी-मार्च ★ १९८८ ★ [अंक १

मनस्वी को किसका लोभ

ब्रह्माण्डमण्डलीमात्रं किं लोभाय मनस्विनः ।
शफरीस्फुरितेनाब्धिः क्षुब्धो न खलु जायते ।।

—जो मनस्वी हैं, आत्मविचारवान् हैं, उन्हें अखिल ब्रह्माण्ड का ऐश्वर्य भला क्या लुभाएगा ? मछली के उछलने से क्या कभी समुद्र को उमड़ते देखा गया है ?

——भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्', ९२

अग्नि-मंत्र

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

१५०२, जोन्स स्ट्रीट,
सैन फ्रांसिस्को,
७ मार्च, १९००

प्रिय धीरा माता,

आपका पत्र, जिसके साथ केवल सारदानन्द का एक पत्र तथा हिसाब-किताब का कागज भी संलग्न था, पहुँच गया। मेरे भारत छोड़ने के समय से लेकर अब तक के समाचारों से मैं आश्वस्त हो गया। हिसाब-किताब एवं ३०,००० रु. के खर्च के सम्बन्ध में आप जैसा उचित समझें वैसा करें।

प्रबन्ध का भार मैंने आपके ऊपर छोड़ दिया है, गुरुदेव सबसे अच्छा मार्ग सुझाएँगे। ३५,००० रुपये हैं; जिसमें ५,००० रु. गंगा-तट पर कुटी-निर्माण के लिए है, और सारदानन्द को लिखा है कि वह इसे अभी उपयोग में न लावे। मैं ५ हजार रुपये ले चुका हूँ। अब और अधिक नहीं लूंगा। मैंने इन ५,००० रु. में भारत में ही २,००० रु. या अधिक वापस कर दिया है। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि ब्रह्मानन्द ने ३५,००० रु. को सुरक्षित रख छोड़ने के लिए मेरे २,००० रु. का सहारा लिया; इसलिए इस आधार पर मैं और ५,००० रु. का उन लोगों का ऋणी हूँ। मैंने सोचा था कि मैं यहाँ कैलिफोर्निया में रुपये एकत्र कर उन लोगों को चुपके से चुकता कर दूंगा। अब मैं आर्थिक दृष्टि से कैलिफोर्निया में पूर्णतया असफल हो चुका हूँ। यहाँ की परिस्थिति लॉस एंजिलिस से भी खराब है। लोग

व्याख्यान के निःशुल्क होने पर झुण्ड के झुण्ड आते हैं; लेकिन जब कुछ देना पड़ता है, आनेवालों की संख्या बिल्कुल ही कम हो जाती है। इंग्लैण्ड में मुझे फिर भी कुछ आशा है। मई तक इंग्लैण्ड पहुँच जाना मेरे लिए आवश्यक है। सैन फ्रांसिस्को में व्यर्थ रहकर अपने स्वास्थ्य को बिगाड़ने से कोई लाभ नहीं। साथ ही, 'जो' के तमाम उत्साहों के बावजूद, चुम्बकीय रोग निवारक (magnetic healer) के द्वारा अब तक वास्तविक रूप से कोई फायदा नहीं हुआ, सिवाय मेरी छाती पर कुछ लाल धब्बों के, जो मलने के कारण उत्पन्न हो गये हैं। व्याख्यान-मंचों का कार्य मेरे लिए असम्भव वस्तु है, और इस पर जिद करने का मतलब होता है अपने 'अन्त' को शीघ्रता से आमन्त्रित करना। यात्रा-खर्च के पूरा होते ही मैं यहाँ से शीघ्र रवाना हो जाऊँगा। मेरे पास ३०० डालर हैं, जिन्हें मैंने लॉस एंजिलिस में उपार्जित किया था। मैं आगामी सप्ताह में यहाँ व्याख्यान दूंगा और फिर व्याख्यान देना बन्द कर दूंगा। जहाँ तक रुपये एवं मठ का प्रश्न है, जितना ही जल्द इनसे मुक्ति मिले, उतना ही अच्छा।

आप जो कुछ भी करने की सलाह दें, मैं करने के लिए तैयार हूँ। आप मेरी वास्तविक माँ रही हैं। मेरे भारी बोझों में से एक बोझ अपने ऊपर ले रखा है---मेरा अभिप्राय अपनी गरीब बहन से है। मैं पूर्ण रूप से अपने को सन्तुष्ट पाता हूँ। जहाँ तक मेरी अपनी माँ का प्रश्न है, मैं उसके पास लौट रहा हूँ—अपने और उसके अन्तिम दिनों के लिए। मैंने १,००० डालर जो न्यूयार्क में रखे हैं, उससे ९ रु. महीने आएँगे; फिर उसके लिए थोड़ी-सी जमीन खरीद ली है, जिससे ६ रु. प्रति माह मिल जाएँगे; उसके

पुराने मकान से समझिए कि ६ रु. मिल जाएँगे । जिस मकान के सम्बन्ध में मुकदमा चल रहा है, उसको हिसाब में नहीं लेता; क्योंकि अभी तक उस पर कब्जा नहीं मिला है । मैं, मेरी माँ, मेरी मातामही एवं मेरा भाई आसानी से २० रु. महीने में गुजारा कर लेंगे । यदि न्यूयार्क-वाले १,००० डालर में बिना हाथ लगाये भारत-यात्रा के लिए खर्च पूरा हो जाए, तो मैं अभी रवाना हो जाऊँगा ।

किसी तरह तीन-चार सौ डालर अर्जित कर लूँगा—-४०० डालर द्वितीय श्रेणी में यात्रा करने एवं कुछ सप्ताह लन्दन में ठहरने के लिए पर्याप्त हैं । अपने लिए कुछ और अधिक करने के लिए मैं आपसे नहीं कहता हूँ; मैं यह नहीं चाहता । आपने जो कुछ किया है, वह बहुत अधिक है—-सदैव ही उससे कहीं अधिक, जितने का मैं पात्र था । श्रीराम-कृष्ण के कार्य में मेरा जो स्थान था, उसको मैंने आपको समर्पित कर दिया है । मैं उसके बाहर हूँ । यावज्जीवन मैं अपनी बेचारी माँ के लिए यातना बना रहा । उसकी सारी जिन्दगी एक अविच्छिन्न आपत्तिस्वरूप रही । अगर सम्भव हो सका, तो मेरा यह अन्तिम प्रयास होगा कि उसे कुछ सुखी बनाऊँ । मैंने पहले से सुनिश्चित कर रखा है । मैं 'माँ' की सेवा सारे जीवन करता रहा । अब वह सम्पन्न हो चुका; अब मैं उनका काम नहीं कर सकता । उनको अन्य कार्यकर्ता ढूंढ़ने दीजिए—मैं तो हड़ताल कर रहा हूँ ।

आप एक ऐसी मित्र रही हैं, जिसके लिए श्रीरामकृष्ण जीवन का लक्ष्य बन गये हैं—और आपमें मेरी आस्था का यही रहस्य है । दूसरे लोग व्यक्तिगत रूप से मुझसे स्नेह करते हैं । किन्तु वे यह नहीं जानते कि जिस वस्तु के लिए वे मुझसे प्रेम करते हैं, वह श्रीरामकृष्ण हैं; उनके बिना

में एक निरर्थक स्वार्थपूर्ण भावनाओं का पिण्ड हूँ। अस्तु, यह दबाव भीषण है—यह सोचते रहना कि आगे क्या हो सकता है, यह चाहते रहना कि आगे क्या होना चाहिए। मैं उत्तरदायित्व के योग्य नहीं हूँ; मुझमें एक अभाव पाया जाता है। मुझे अवश्य ही यह काम छोड़ देना चाहिए। अगर कार्य में जीवन न हो तो उसे मर जाने दो; अगर यह जीवन्त है, तो इसको मेरे जैसे अयोग्य कार्यकर्ताओं की आवश्यकता नहीं है।

अब मेरे नाम से सरकारी प्रतिभूतियों (सेक्योरिटी) के रूप में ३०,००० रु. हैं। अगर इनको अभी बेच दिया जाता है, तो युद्ध के कारण हम लोग बुरी तरह से घाटा उठाएँगे; फिर वहाँ बेचे बिना वे यहाँ कैसे भेजे जा सकते हैं। उनको वहाँ पर बेचने के लिए उन पर मेरा हस्ताक्षर करना आवश्यक है। मुझे विदित नहीं है कि यह सब कैसे सुलझाया जा सकता है। आप जैसा उचित समझें करें। इसी बीच यह आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु के लिए मैं आपके नाम पर एक वसीयतनामा लिख दूँ, उस परिस्थिति के लिए जब मैं अचानक मर जाऊँ। जितना शीघ्र हो सके वसीयत का एक प्रारूप आप मुझे भेज दें और मैं इसे सैन फ्रांसिस्को या शिकागो में रजिस्टर्ड करा दूंगा; तब मेरी अन्तरात्मा निश्चिन्त हो जाएगी। मैं यहाँ किसी वकील को नहीं जानता, नहीं तो मैंने इसे पूरा करवा लिया होता; फिर मेरे पास धन भी नहीं है। वसीयत तत्काल हो जानी चाहिए; न्यास एवं दूसरी वस्तुओं के लिए पर्याप्त समय है।

आपकी चिरसन्तान,
विवेकानन्द

○

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

उन्नीसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन के वरिष्ठ उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में, और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स०)

दक्षिणेश्वर के मन्दिर में श्री विजयकृष्ण गोस्वामी आदि भक्तों के साथ ठाकुर का ईश्वर-प्रसंग चल रहा है।

वैधी भक्ति

भक्ति के प्रसंग में ठाकुर रागात्मिका भक्ति पर जोर देकर कहते हैं कि ठीक इसी प्रकार की भक्ति होने पर भगवान् मिलते हैं। लेकिन जो जहाँ पर है, उसे वहीं से शुरू करना होता है। इस रागात्मिका भक्ति को पाने का उपाय है वैधी भक्ति। यदि कोई यह सोचे कि जब तक रागात्मिका भक्ति नहीं हो जाती, तब तक मैं ईश्वर-चिन्तन नहीं करूँगा, तब तो उसके लिए ईश्वर-चिन्तन करना कभी भी सम्भव नहीं होगा। कारण यह कि जब उनके प्रति परिपूर्ण प्रेम हो जाएगा, तब व्यक्ति के लिए किसी साधना की आवश्यकता ही नहीं होगी। तब न किसी आचार का प्रयोजन रहेगा, न जप-तप का, न नियम-कानून का, न कठोर अनु-

शासन का । तब तो भक्त केवल आस्वादन लेकर रहेगा, भगवान् को लेकर आनन्द मनाएगा । बहुतेरे भक्तों और साधुओं की भक्ति ऐसी है, जो सब नियमों के पार चली गयी है । पर इसका मतलब यह नहीं कि हम पहले से ही ऐसी अवैधी भक्ति का आश्रय ले लें, क्योंकि भक्ति पाने के लिए तो हमें ऐसा विश्वास लेकर आगे बढ़ना होगा कि साधना के द्वारा ही हम उन्हें पा सकते हैं । पर हम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाएँगे, त्यों-त्यों हमारी बुद्धि साफ होती जाएगी, शुद्धतर होती जाएगी और त्यों-त्यों हम समझ सकेंगे कि हम चाहे जितनी कठोर साधना क्यों न करें, भगवान् को पाने के लिए वह कभी भी यथेष्ट नहीं है । और जिस दिन यह बात पूरी तरह से हमारी समझ में आ जाएगी, तभी भगवान् पर पूरी निर्भरता आएगी । शास्त्रकारों ने कहा है और साधकों ने भी कहा है कि 'साधना की सहायता से उनको प्राप्त करूँगा' साधक का यह अभिमान, यह अहंकार जब चूर-चूर होता है, जब साधक स्वयं को असहाय अनुभव करता है और पूरी तरह से उनकी शरण लेता है, तभी उनकी कृपा होती है, तभी उनकी दया का अनुभव होता है । निस्सन्देह दया का कोई नियम-कानून नहीं है । यह बात कभी नहीं कही जा सकती कि ऐसा करने से उनकी दया होगी और न करने से नहीं होगी । लेकिन उनकी दया के ऊपर निर्भर करने योग्य मनःस्थिति साधक के जीवन में बहुत साधना के बाद आती है । इस प्रसंग में हम ठाकुर के उस दृष्टान्त का स्मरण करें । बागबाजार के हरि (आगे चलकर स्वामी तुरीयानन्द) बहुत दिनों से ठाकुर के पास नहीं आये थे । ठाकुर ने पता लगाकर जाना कि हरि वेदान्त-विचार में मग्न हैं, पर जानकर भी उन्होंने कुछ नहीं कहा ।

एक दिन ठाकुर बागबाजार स्थित बलराम मन्दिर में आये। आते ही हरि को बुला लाने को कहा। हरि ने आकर देखा कि ठाकुर भक्तों से घिरे हुए हॉल में बैठे हैं और एक गीत गा रहे हैं। दोनों आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है, जिससे सामने का गलीचा तक बहुत कुछ भीग गया है। गीत यह था—'ओरे कुशीलव करिस कि गौरव, धरा न दिले कि पारिस धरिते' (अरे लव-कुश, भला अभिमान किस बात का करते हो? यदि पकड़ने न देता तो क्या तुम पकड़ पाते)? लव-कुश हनुमान् को बाँधकर सीताजी के पास ले गये और बोले, "माँ, देखो, हम लोग कितना बड़ा बन्दर पकड़कर लाये हैं।" हनुमान् तब गाते हैं—'धरा न दिले कि पारिस धरिते'। मनुष्य सोचता है कि वह साधना के द्वारा ईश्वर को पकड़ लेगा, वह नहीं जानता कि हजार जन्म की साधना भी उनको पाने के लिए नितान्त अपर्याप्त है। ठाकुर का यह गीत सुनकर हरि अपनी भूल समझ सके। न किसी प्रश्न की आवश्यकता हुई, न किसी उपदेश की।

ठाकुर कह रहे हैं—फिर कोई कोई ऐसे भी हैं, जो बचपन से ही रागात्मिका भक्ति लेकर जन्म लेते हैं, जिनमें एकदम शुरू से ही भक्ति का प्रकाश दिखाई देता है, जैसे प्रह्लाद। प्रह्लाद को किसी के पास जाकर भक्ति नहीं सीखनी पड़ी; अपितु नितान्त प्रतिकूल परिवेश में उसकी भक्ति स्वतःस्फूर्त हो प्रकाशित हो उठी थी। इस प्रकार की भक्ति के आ जाने पर फिर वैधी भक्ति की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस सम्बन्ध में तुलसीदासजी का एक दोहा है—

तुलसी जप तप कीजिए, सब गुड़िया का खेल ।
पर जब प्रिय से मिलन हो, रखे पिटारी मेल ।।

——यह जप-तप जो कुछ देख रहे हो, सब छोटी लड़कियों के गुड़िया के खेल के समान है । छोटी लड़कियाँ गुड़िया लेकर खेलती हैं; गुड़ियों के संसार में खो जाती हैं । पर जब असली संसार शुरू होगा, जब स्वामी के साथ मिलन होगा, तब उन गुड़ियों को पेटी में डालकर रख दिया जाएगा । ठीक इसी प्रकार जप-तप करना मानो भगवान् को लेकर गुड़िया का खेल खेलना । इन सबकी सार्थकता केवल भगवद्-वृत्ति के अनुशीलन में है । जब भगवान् के आस्वादन का, उनको लेकर आनन्द करने का सुअवसर आता है, तब जप-तप की सार्थकता नहीं रह जाती; तब सब 'गुड़िया का खेल' प्रतीत होता है । जब भगवान् के प्रति प्रेम हृदय में आता है, तब जपादि कर्मों का त्याग हो जाता है । तब कौन जप करेगा और किसके लिए जप करेगा ? यशोदा कृष्ण के लिए विलाप कर रही हैं । उद्धव उपदेश देते हैं कि कृष्ण तो हृदय में ही विराजमान हैं, उनका ध्यान करने से ही तो वे मिलते हैं, फिर इतना विलाप क्यों ? यशोदा कहती हैं——मैं जिस मन से ध्यान करूँगी, वह मन है कहाँ, मैं तो वह मन कब से कन्हैया को दे चुकी हूँ । मन नहीं है, इसलिए साधना का यंत्र भी नहीं है । यह दृष्टान्त बहुत ही सुन्दर है कि साधक जहाँ तन्मय हो जाता है, वहाँ उसे और किसी साधना के लिए अवकाश रह नहीं जाता । जब तक वे दूर हैं, जब तक उनके प्रति तीव्र प्रेम नहीं होता, तब तक साधना की आवश्यकता है । पर जब उनके प्रति अनुराग आ गया, तब फिर इन सब साधनाओं की कोई सार्थकता नहीं ।

प्रेमाभक्ति से ईश्वर-लाभ

यहाँ पर विजयकृष्ण गोस्वामी एक और प्रश्न करते हैं—"महाशय, ईश्वर को पाने के लिए, उनका दर्शन करने के लिए भक्ति होने से ही हुआ न ?" प्रश्न सुनकर ऐसा लगता है कि इस सम्बन्ध में उनमें संशय है। भक्ति, जो एक emotion है, मन की एक वृत्ति मात्र है, क्या केवल उसी से भगवान् को पाया जा सकता है ? ठाकुर कहते हैं, "हाँ, भक्ति के द्वारा ही उनको पाया जाता है, उनके दर्शन होते हैं।" लेकिन यहाँ 'भक्ति' को समझाते हुए कहते हैं, "पक्की भक्ति, प्रेमा भक्ति, रागात्मिका भक्ति चाहिए ।" ऐसी ही भक्ति के आने पर भगवान् से प्रेम होता है। यहाँ पर एक प्रश्न हमारे मन में बार-बार आता है कि भक्ति का लक्षण क्या है ? ठाकुर कह रहे हैं—"इस प्रेम के, इस रागात्मिका भक्ति के आने से स्त्री-पुत्र, स्वजन-कुटुम्ब के ऊपर फिर मायिक आकर्षण नहीं रह जाता ।" तो क्या मनुष्य पेड़-पत्थर हो जाता है ? कहते हैं, "नहीं, माया का आकर्षण नहीं रह जाता, दया रह जाती है ।" कहीं हम समझने में गलती न कर लें, इसलिए ठाकुर तुरन्त बाद ही कहते हैं कि "दया रहती है ।" 'मैं-मेरा' ऐसा बोध 'माया' है, और सर्व जीवों के प्रति करुणा से 'दया' होती है । माँ सन्तान के प्रति दया नहीं करती, माया करती है, क्योंकि वहाँ 'मेरा' बोध है—'मेरा राम', 'मेरा हरि' इत्यादि । लेकिन यदि माँ का आकर्षण सबके प्रति समान होता, तब उसे फिर 'माया' नहीं कहा जाता । जहाँ ममत्व है, मेरे पन का बोध है, वहाँ केवल उसी व्यक्ति के लिए प्रेम का प्रकाश होता है, इसलिए उसे 'माया' कहते हैं । माया और दया में अन्तर यह है कि 'माया' के द्वारा मनुष्य बन्धन में पड़ता है और

'दया' उसे मुक्ति देती है। इसीलिए ठाकुर ने अनेक स्थानों पर कहा है, "माया ठीक नहीं, दया ठीक है।"

ठाकुर यह भी कहते हैं कि कच्ची भक्ति रहने से भगवान् की बात की धारणा ही नहीं हो पाती; जिसके शुद्धाभक्ति है, प्रेमाभक्ति है, केवल वही भगवान् की कथा की धारणा कर सकता है। ठाकुर फोटोग्राफ के काँच का उदाहरण देते हैं। फोटोग्राफ के काँच में काला मसाला लगा रहता है, उसी से फोटो बनता है। वह नहीं होने से अक्स आते ही चला जाता है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य के मन में यदि प्रेम न हो, तो उस प्रेमस्वरूप की बात अपना दाग अंकित करेगी कैसे? भगवान् से प्रेम होने पर संसार अनित्य प्रतीत होता है; जैसा कि इस गीत में है—

"मन चलो निज निकेतने ।
संसार-विदेशे विदेशीर वेशे भ्रमो केनो अकारणे ।।"

—'मन, अपने घर चलो, इस विदेशरूप संसार में विदेशी के वेश में अकारण क्यों भटक रहा है?' संसार इसी प्रकार विदेश प्रतीत होता है। अपना देश वहाँ है, जहाँ वे हैं। वे ही प्रेम के एकमात्र पात्र हैं, वे ही एकमात्र प्रेमास्पद हैं। अन्य स्थानों में उन्हीं की छुट-पुट सत्ता है, इसीलिए हम आकर्षण का अनुभव करते हैं। लेकिन असली आकर्षण की वस्तु तो वे ही हैं। वे क्यों अच्छे लगते हैं? वे 'वे' हैं, इसीलिए वे अच्छे लगते हैं, और कोई कारण नहीं। तब हम भगवान् के रूप-गुण आदि की बात नहीं सोचते, 'वे' हैं, बस यही यथेष्ट है; तब भगवान् हमारे समस्त अन्तःकरण में छाये रहते हैं। और इसी का नाम है प्रेमाभक्ति।

भक्ति का लक्षण और अनुभूति

यह प्रेमाभक्ति जब कोई पा लेता है, तो विषय-बुद्धि

एकदम दूर हो जाती है। विषय-बुद्धि के लेशमात्र रहते उनका दर्शन नहीं होता। बहुत से लोग कहते हैं कि वे कई बार नानाविध रूप देखते हैं। इसलिए उनका यह प्रश्न है कि क्या वे भगवान् की ओर ठीक-ठीक आगे बढ़ रहे हैं? यह प्रश्न हमसे भी कई लोग करते हैं। भगवान् की ओर बढ़ने की एक कसौटी है, और वह है—विषय-भोग का अलोना लगना, विषय के प्रति आकर्षण का कम होना। 'भागवत' के एक श्लोक में कहा गया है कि भगवान् की शरण जाने से भगवान् में भक्ति, भगवान् को छोड़कर अन्य विषयों से विरक्ति और भगवान् के प्रति स्पष्ट धारणा एवं दृढ़ निश्चय—ये तीन बातें मनुष्य के जीवन में एक साथ आती हैं। जब कोई उपवास करता है, तब उपवास के कारण उसके मन में अतृप्ति रहती है, शरीर में दुर्बलता रहती है और पेट में क्षुधा की ज्वाला रहती है। ऐसा उपवासी व्यक्ति जब भोजन पाकर एक-एक कौर मुँह में डालता है, तब धीरे-धीरे उसकी अतृप्ति दूर होती जाती है, वह अनुभव करता है कि उसमें बल आता जा रहा है, और क्षुधा की ज्वाला भी शान्त होती जा रही है। ये तीनों अनुभव उसे एक साथ होते हैं। इसी प्रकार भगवान् के प्रति जिसमें भक्ति होती है, उसे इन तीन बातों का एक साथ अनुभव होता है—"भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः"—भगवान् के प्रति आकर्षण, भगवान् को छोड़ अन्य सब ओर से विरक्ति और भगवान् के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा। उसका मन ऐसे एक स्वाद से भरा रहता है कि उसे और कोई स्वाद अच्छा नहीं लगता। "यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः"—जिसे पा लेने पर और पाना शेष नहीं रहता। "यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते"—जिसमें

अवस्थित होने पर बड़े से बड़ा दुःख भी मनुष्य को विचलित नहीं कर पाता । तब प्रेमसागर उमड़ पड़ता है और समस्त सुख-दुःख की भावना को डुबो देता है । यह है कसौटी, जिस पर कसकर परीक्षा करनी होती है कि हमारा अनुभव ठीक है या नहीं ।

विषय-वितृष्णा और संशय-नाश

एक ब्रह्मचारी उत्तरकाशी में रहकर साधना करते । उन्होंने एक दिन मुझसे कहा, "देखो स्वामीजी, जब मैं बैठकर ध्यान करता हूँ तो देखता हूँ कि कृष्ण वंशी बजा रहे हैं और तैंतीस करोड़ देवता वहाँ आकर इकट्ठे हो गये हैं ।" उनके कहने का मर्म यह था कि साधनाक्षेत्र में अवश्य ही उनकी बहुत उन्नति हो चुकी है । ठाकुर कहते हैं कि इन सब दर्शनों को परखने के लिए एक कसौटी है । यदि ऐसा लगे कि मन भगवान् में एकाग्र हो अचंचल हो गया है, यदि लगे कि विषय अब पहले जैसा अच्छा नहीं लगता, यदि लगे कि भगवान् के सम्बन्ध में सारे संशय दूर हो गये हैं, तब तो समझना होगा कि वे सब दर्शनादि सत्य हैं । अन्यथा यही मानना होगा कि वह सब केवल मन का खेल है । कल्पना फिर वह कितनी ही मनोरम क्यों न हो, कभी वास्तविक नहीं हो सकती । हाँ, यह सत्य है कि साधना का प्रारम्भ भगवान् की कल्पना करके ही करना होता है, इस विषय में कोई सन्देह नहीं; लेकिन उस कल्पना को हम कहीं सत्य न समझें । इस कल्पना की सहायता से ही उनकी ओर हमारा बढना शुरू होता है, और उसका अन्त तब होता है, जब हम उनके पादपद्मों में पहुँच जाते हैं । और हम वहाँ पर पहुंच गये इसका लक्षण यही है कि क्रमशः उनके प्रति अनुराग की वृद्धि होगी और उनके अस्तित्व के

सम्बन्ध में हमारे समस्त संशयों का अवसान होगा। और ये लक्षण स्वसंवेद्य हैं, हम स्वयं इनको समझ सकते हैं; क्योंकि मेरे मन की गति किस ओर है इसे दूसरे की अपेक्षा मैं ही ठीक से समझ सकता हूँ। अकसर हम अपने आपको ऐसा दिखाने की चेष्टा करते हैं, जिससे लोग हमें एक मस्त भक्त समझें। पर अपना स्वरूप अपनी दृष्टि से कभी छिपा नहीं रहता।

आत्म-विश्लेषण

निष्कपट भाव से तनिक आत्म-विश्लेषण करने से ही मन की करनी पकड़ में आ जाती है, हम समझ सकते हैं कि हम कहाँ पर खरे हैं और कहाँ पर खोटे। एक काली का उपासक माँ-काली के दर्शन करने के लिए बहुत व्याकुल था। जिसको देखता उसी से पूछता, "क्या मुझे माँ का दर्शन करा सकते हो?" यह सुनकर एक व्यक्ति बोला, "हाँ, करा सकता हूँ।" जिस तरह लोगों को समझाया जाता है, उसी तरह समझाते हुए वह बोला, "अमावस्या की रात्रि में श्मशान में जाकर माँ-काली की पूजा करनी होगी। यह सब सामान लगेगा। तुम सब जुगाड़ करके ले आओ। माँ-काली के दर्शन होंगे।" कहना न होगा कि इस पूजा में एक भारी-भरकम दक्षिणा भी अवश्य देनी पड़ेगी! सब व्यवस्था हो जाने पर उसने भक्त से कहा, "आंख मूंद-कर माँ की मूर्ति का ध्यान करो।" भक्त ने वैसा ही किया। उसके बाद वह बोला, "अब देखो, माँ आ गयी हैं।" आँख खोलकर भक्त ने देखा तो सचमुच माँ खड़ी हुई थीं। वह कुछ देर तक देखता रहा और फिर बोला, "माँ, तुम जो सामने आयी हो, उससे मेरे मन में आनन्द का स्रोत क्यों नहीं बह रहा है? जगन्माता के दर्शन से तो मन को आनन्द

से भर जाना चाहिए था। लेकिन मुझे तो वैसा नहीं हो रहा है"—यह कहकर वह माँ के पैरों को पकड़ने लगा। तब वह माँ चिल्लाकर बोल उठी, "अरे बाबा, मैं कुछ नहीं जानती, मुझे यह ब्राह्मण कुछ पैसा देने का लोभ दिखाकर पकड़ लाया है, मुझे छोड़ दे!" यह दृष्टान्त बस इतना समझाने के लिए दिया गया कि अपने आपके साथ हम छल नहीं कर सकते। यदि थोड़ा-सा स्थिर होकर विचार करें तो हमारा मन हमें स्पष्ट बता देगा कि हम भगवान् की ओर सचमुच बढ़ रहे हैं या नहीं। ठाकुर कह रहे हैं कि चावल कूटते समय बीच-बीच में हाथ में लेकर देखना पड़ता है कि किस तरह कुटाई हुई है। ठीक इसी प्रकार साधना के समय बीच-बीच में स्वयं की परीक्षा करके देखना होता है कि साधना-पथ में मेरी उन्नति हो रही है या नहीं। ठाकुर बता रहे हैं कि एक आदमी रात भर खेत में पानी सींचता रहा, पर सुबह देखा तो खेत में एक बूंद भी पानी नहीं था। खेत में कितने ही बिल थे, जिनमें से होकर सारा पानी बह गया था। ऐसे सब बिलों को खोजकर बन्द करना होगा, अर्थात् इस पर नजर रखनी होगी कि साधन-सम्पदा कहाँ से चोरी हुई जा रही है। यह ठीक उन मतवालों की तरह की अवस्था है, जो सारी रात दाँड चलाते रहे और जब सुबह देखा तो पाया कि उनकी नौका जहाँ थी ठीक वहीं है; क्योंकि नौका को खोला नहीं गया था! ठीक ऐसे ही हम भी अक्सर देखते हैं कि वर्ष पर वर्ष जप-ध्यान करके भी हमारा कुछ हो नहीं रहा है। इस 'मैं-मेरा' बुद्धि ने हमें चारों ओर से बाँध रखा है। शत-शत आशा-आकांक्षा-कामना की रस्सी से हम संसार में इस प्रकार बँधे हुए हैं कि हजार जप-तप करके भी आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं।

इसलिए जब भी हम भटकाव का अनुभव करें और ऐसा सोचें कि हम जो इतनी साधना कर रहे हैं उससे ठीक-ठीक आगे बढ़ रहे हैं तो, तब हमारे लिए यह उचित है कि लक्षणों को मिलाकर हम देखें कि सचमुच हमारी प्रगति हो रही है या नहीं। जैसा कि 'गीता' में कहा गया है, पहले यह जान लेना होगा कि बाधा कहाँ पर है, तभी उसे पार करना सहज होगा। अतएव आत्म-विश्लेषण की आवश्यकता है, क्योंकि मैं स्वयं अपने आपको जितनी अच्छी तरह से जानता हूँ उतना कोई दूसरा नहीं जान सकता। इसलिए 'गीता' में, भक्तिशास्त्रों में बार-बार निष्कपट होने की बात कही गयी है। और यही कारण है कि ठाकुर भी बार-बार कहते हैं. "सरल न होने से उन्हें पाया नहीं जा सकता।"

O

मानस-रोग (८।१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर सब मिलाकर ४६ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख उनके आठवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

पिछले दो दिनों से आपके सामने काम-वात की चर्चा चलती रही है। काम के पश्चात् गोस्वामीजी मन के दूसरे दोष को लेते हैं। वे कहते हैं कि व्यक्ति के मन का लोभ ही कफ है। जैसे व्यक्ति के शरीर में कफ की अवस्थिति अनिवार्य है, वैसे ही उसके तथा समाज के जीवन में भी लोभ की अनिवार्यता है। व्यक्ति जब भी कोई कार्य करता है, तो प्रारम्भ में परिणाम की आकांक्षा उसके मन में होती ही है। लेकिन ध्यान रहे कि वह अपार न होने पाए। जिस समय कफ शरीर में सहज भाव से स्थित रहता है, उस समय वह हानिकारक नहीं होता, अपितु शरीर की शक्ति की वृद्धि में सहायक ही होता है। लेकिन वही कफ बढ़ता हुआ यदि श्वासनली को जकड़ ले, हृदय को जकड़ ले, तब तो ऐसी स्थिति में वह कफ उस व्यक्ति को शक्ति देने के बदले उसके लिए मृत्यु का सन्देश लेकर ही आता है। तब व्यक्ति को ऐसा लगता है कि जब तक हमारे हृदय में छाया हुआ कफ किसी तरह से बाहर नहीं निकलेगा, जब तक वह विनष्ट नहीं होगा, तब तक हमें चैन नहीं मिलेगा। लोभ की प्रवृत्ति का स्वरूप भी यही है। जब लोभ की प्रवृत्ति के साथ उसकी अपारता आ जाती है—और बहुधा ऐसा ही

होता है—तब वह घातक सिद्ध होता है । लोभ की वृत्ति को स्पष्ट करने के लिए 'रामचरितमानस' में जो प्रसंग चुने गये हैं, उनमें से कुछ मैं आपके सामने दृष्टान्त के रूप में रखूंगा ।

लोभ की अनिवार्यता, तत्पश्चात् उसका अतिरेक और अतिरेक से उत्पन्न होनेवाले परिणाम का पहला चित्र प्राप्त होता है 'रामचरितमानस' के प्रारम्भ में । 'मानस' को पढ़ने पर कुछ ऐसा लग सकता है कि उसमें इतिहास-पक्ष की अवहेलना-सी है । यदि कोई उसमें रावण के माता-पिता का नाम जानना चाहे, तो उसे निराश होना पड़ेगा । न तो वहाँ रावण की माँ का नाम मिलता है, न पिता का नाम । इतिहास के स्थान पर एक दूसरी पद्धति को इस ग्रन्थ का आधार बनाया गया है, जिसका सम्बन्ध अध्यात्म से है । इस दूसरी पद्धति में यह नहीं कहते कि विश्रवा मुनि और कैकसी के द्वारा रावण का जन्म हुआ, बल्कि यह बतलाते हैं कि रावणत्व का जन्म कैसे होता है । इसी की सांकेतिक कथाएँ 'रामायण' में हैं । और इन सारी कथाओं में एक बात आपको बार-बार मिलेगी, वह यह कि महत्त्व इसका नहीं कि रावण इस जन्म में किसका बेटा था, महत्त्व इसका है कि रावण पूर्वजन्म में क्या था । रावण की पूर्व-जन्म की जो गाथाएँ हैं, उनमें यह बतलाया गया है कि रावण पूर्वजन्म में बुरा नहीं था, पर अगले जन्म में वह बुरा हो जाता है । एक अच्छा व्यक्ति किन परिस्थितियों में बुरा बन जाता है, इसका एक क्रमिक विश्लेषण रावण के पुनर्जन्म की गाथा के माध्यम से 'रामचरितमानस' में प्रस्तुत किया गया है । इसके साथ-साथ 'रामायण' में रावण के चार रूपों की भी चर्चा की गयी है, जिसे 'चार

कल्पों की कथा' के नाम से जाना जाता है। एक कल्प की कथा में यह बतलाया गया है कि भगवान् शंकर के गण अन्त में रावण और कुम्भकर्ण बन जाते हैं। दूसरे कल्प की कथा में आता है कि भगवान् विष्णु के पार्षद जय और विजय रावणऔर कुम्भकर्ण में परिणत हो जाते हैं। तीसरे कल्प की कथा में वृन्दा का पति जालन्धर रावण बन जाता है, और चौथे कल्प की गाथा यह है कि प्रतापभानु नाम का राजा रावण के रूप में जन्म लेता है। इन पात्रों में से एक जब रावण के रूप में जन्म लेता है, तो उसके मूल में लोभ की वृत्ति है। यदि लोभ अतिशय न होता, उसकी पराकाष्ठा न होती, तो एक श्रेष्ठ व्यक्ति रावण के रूप में परिणत न हुआ होता। जय और विजय जब रावण और कुम्भकर्ण के रूप में जन्म लेते हैं, तब उसके मूल में अहंकार की प्रधानता है। पर जब प्रतापभानु रावण बनता है, तब उसके मूल में लोभ की मुख्यता है। इसका सांकेतिक तात्पर्य यह है कि गोस्वामीजी मानो व्यक्ति को सावधान कर देना चाहते हैं कि वह यह सोचकर निश्चिन्त न हो जाय कि रावण एक बड़ा बुरा व्यक्ति था, बल्कि वह यह जान ले कि रावण किन परिस्थितियों में जन्म लेता है; और यदि उसी प्रकार की मन:स्थिति और परिस्थिति हमारे जीवन में आती है, तो हम भी रावण बन सकते हैं। इसी प्रकार रुद्रगणों की गाथा के माध्यम से यह बतलाया गया है कि परदोष-दर्शन से भी रावणत्व का जन्म होता है, तथा वृन्दा की गाथा यह प्रदर्शित करती है कि जब व्यक्ति धर्म से प्राप्त शक्ति को अधर्म के संरक्षण में लगाता है, तो उससे भी रावणत्व पैदा होता है। वृन्दा पतिव्रता थी और उसने अपने पातिव्रत्य से प्राप्त

शक्ति के द्वारा अपने दुराचारी पति की रक्षा करनी चाही। वह तो हुआ नहीं, पर उसके पति जालन्धर को रावण के रूप में जन्म लेना पड़ा। इस प्रकार से यह चार कल्पों की गाथा है।

प्रतापभानु की कथा बड़ी प्रसिद्ध है। उसमें गोस्वामीजी ने वर्णन करते हुए बतलाया है कि प्रतापभानु एक बड़े ही धर्मात्मा राजा का पुत्र था। उसके पिता का नाम था सत्यकेतु। सत्यकेतु के दो पुत्र थे; एक का नाम था प्रतापभानु और दूसरे का, अरिमर्दन। गोस्वामीजी कहते हैं कि जब सत्यकेतु बूढ़े हो गये, तो उन्होंने राज्य के लोभ का परित्याग कर दिया और—

जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा।
हरि हित आपु गवन बन कीन्हा ॥१/१५२/८

सत्यकेतु को ऐसा लगा कि जीवन की सार्थकता भोगों में नहीं है। जिस राज्यसत्ता का मैं इतने दिनों तक भोग करता रहा हूँ, वह हमारे जीवन के एक अंग की ही पूर्ति करती है, पर जीवन का चरम लक्ष्य तो ईश्वर को प्राप्त करना है। और वे उसे पाने के लिए राज्यसत्ता का परित्याग कर देते हैं। प्रतापभानु राज्य स्वीकार कर लेता है। अब यों देखें तो प्रतापभानु ने जो कुछ किया, वह धर्म के अनुकूल था। परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र ही राजा होता था और प्रतापभानु अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र था। किन्तु गोस्वामीजी अपने कुछ सूक्ष्म संकेतों के द्वारा प्रतापभानु के चरित्र की कतिपय कमियों की ओर संकेत करते हैं।

इसी से मिलता-जुलता एक प्रसंग मनु के जीवन में आता है। वे तब वृद्ध हो गये हैं, उन्हें भी ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर की प्राप्ति के बिना जीवन सार्थक नहीं है, और

वे भी अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देकर वन को चले जाते हैं। पर गोस्वामीजी इन दोनों प्रसंगों में राज्य के उत्तराधिकारियों के मन का अन्तर एक शब्द के द्वारा प्रकट कर देते हैं। वे कहते हैं कि जब मनु अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देने लगे, तो उसने राज्य लेने में आनाकानी की। वह बोला, "नहीं, आप ही सिंहासन पर रहकर राज्य का संचालन करें। आपके द्वारा राज्य सुसंचालित हो रहा है, मुझे राज्य की आवश्यकता नहीं है।" गोस्वामीजी लिखते हैं—

बरबस राज सुतहि तब दीन्हा (१।१४२।१)

—जब पुत्र ने सीधे स्वीकार नहीं किया, तो मनु ने आदेश देते हुए उसे बलपूर्वक राज्य प्रदान किया। किन्तु प्रतापभानु के प्रसंग में गोस्वामीजी 'बरबस' शब्द का प्रयोग नहीं करते, वहाँ पर कहते हैं—'जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा' (१।१५२।८)। इसका अभिप्राय यह कि जैसे मनु के पुत्र ने राज्य लेने में आनाकानी दिखाई थी, उस प्रकार की कोई आनाकानी प्रतापभानु के जीवन में नहीं है। प्रतापभानु यह मान लेता है कि पिताजी जो मुझे राज्य दे रहे हैं, उस पर मेरा स्वतःसिद्ध धर्मसंगत अधिकार है, अतएव राज्य को स्वीकार कर मैं धर्म का ही पालन कर रहा हूँ। बस, यहीं पर दोनों की मनोभूमि में अन्तर हो गया। 'रामचरितमानस' में मन के दोषों का वर्णन करते हुए यह बतलाया गया है कि भले ही हमारे मन में दोष विद्यमान हैं, पर यदि बुद्धि में यह बोध बना रहे कि मेरे मन में दोष हैं, यदि हम दोष को दोष के रूप में देखते रहें और बुद्धि के द्वारा उनका समर्थन न करें, तो इन दोषों को दूर किया जा सकता है। महाराज मनु के पुत्र में दोषों के प्रति दोष-बुद्धि थी, इसीलिए राज्य-सत्ता स्वीकार करने में वह आनाकानी करता है, पर

प्रतापभानु राज्यसत्ता में कोई दोष नहीं देखता और उसे अपना प्राप्य मान ग्रहण कर लेता है। यही दोनों का अन्तर है।

गोस्वामीजी से पूछा गया कि व्यक्ति चेष्टा करके भी इन दोषों को क्यों दूर नहीं कर पाता है। इसका उत्तर देते हुए वे 'विनय-पत्रिका' में कहते हैं कि मनुष्य के मन में जो दोष हैं, उनसे सम्बन्ध इसी जन्म से न होकर पूर्व पूर्व जन्मों से है। वे लिखते हैं—

जनम जनम अभ्यास-निरत चित,
अधिक अधिक लपटाई (८२)

—'अनेक जन्मों से यह चित्त पाप में लगे रहने का अभ्यासी हो रहा है, इसलिए उसमें दोष अधिकाधिक लिपटते ही जाते हैं।' यह चित्त क्या है? वह अन्तःकरण-चतुष्टय का एक अंग है और उसके शेष तीन अंग हैं मन, बुद्धि और अहंकार। चित्त संस्कारों का पुंज है और उसमें दोष और गुण की सत्ता समान रूप से विद्यमान है। चित्त के ये दोष मन के धरातल पर सक्रिय हो प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देते हैं। इस प्रकार चित्त और मन दोनों दोषयुक्त हो जाते हैं। चित्त से दोष का उद्भव होता है और मन से वह जीवन में क्रियान्वित होने लगता है। अब यदि उस दोष में मनुष्य की बुद्धि गुण देखने लगे, तो फलस्वरूप वह व्यक्ति अहंकारी हुए बिना नहीं रहेगा। सामान्यतः मनुष्य का जीवन दो भागों में बँटा होता है—एक भाग में है चित्त और मन तथा दूसरे भाग में, बुद्धि और अहं। पर जब बुद्धि और अहं चित्त और मन के रंग में रँग जाते हैं, तब हमारा समूचा अन्तः-करण-चतुष्टय दोषयुक्त हो जाता है। फलतः रोग असाध्य हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को स्वस्थ नहीं किया जा सकता।

भगवान् कृष्ण 'गीता' में अर्जुन को काम के केन्द्र बतलाते हुए कहते हैं—'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते' (३।४०)—इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये काम के अधिष्ठान हैं, उसके घर हैं। इसकी व्याख्या 'रामचरितमानस' में बड़ी सुन्दर पद्धति से की गयी है। मेघनाद मूर्तिमान् काम है। जब वह युद्ध करता है, तो तीन प्रकार की कला का उपयोग करता है। इसकी व्याख्या आपके सामने विस्तार से हो चुकी है। जब उसने वानरों की सेना को अपने सामने देखा, तो दस-दस बाण चलाकर प्रत्येक बन्दर को घायल कर दिया—

दस दस सर सब मारेसि परे भूमि कपि बीर।६।५०

यह युद्ध की उसकी पहली कला है। पर बन्दरों ने पराजय स्वीकार नहीं की और वे मेघनाद से लड़ते रहे। मेघनाद अकेला था और बन्दर बहुत बड़ी संख्या में थे। तब मेघनाद अपने मायामय रथ में बैठ जाता है और आकाश में अदृश्य होकर बाणों की वर्षा करने लगता है। हनुमान्जी वहाँ भी उसका पीछा करते हैं और फलस्वरूप वह अपने कार्य में सफल नहीं हो पाता है। उसके बाद वर्णन आता है कि मेघनाद निकुम्भिला नामक स्थान में जाकर यज्ञ करने लगता है। यदि वह यज्ञ सम्पन्न हो जाता, तो मेघनाद को ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती कि उसका वध करना असम्भव हो जाता। गोस्वामीजी लिखते हैं—

करौं अजय मख अस मन धरा (६।७४।२)

—मेघनाद अजय (अजेय होने को) यज्ञ करने का निश्चय करके पर्वत की गुफा में चला जाता है। जब विभीषण को यह समाचार मिलता है, तब वे घबरा जाते हैं। अभी तक उन्हें मेघनाद से भय नहीं था, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि

मेघनाद मारा जाएगा। पर जब वे सुनते हैं कि मेघनाद यज्ञ करने जा रहा है, तब वे भगवान् राम के पास घबराये हुए आते हैं और उन्हें यह समाचार देते हैं। ऊपर से देखने में तो यही लगता है कि बुरा व्यक्ति भला हो गया। पहले वह मार-काट करता था, अब यज्ञ कर रहा है, पूजा-पाठ कर रहा है। मानो यहाँ अच्छे परिवर्तन की प्रक्रिया दिखाई देती है। पर विभीषण कहते हैं कि महाराज, उसका यज्ञ बड़ा घातक है, क्योंकि—

मेघनाद मख करइ अपावन (६।७४।४)

—वह अपवित्र यज्ञ कर रहा है। मख और वह अपावन ! विचित्र बात है। यज्ञ का तात्पर्य ही वह है, जो पवित्र है। पर विभीषण यज्ञ के साथ 'अपवित्र' शब्द जोड़ देते हैं। मेघनाद के इस अपवित्र यज्ञ का उद्देश्य था—श्री राम को पराजित करना, लक्ष्मणजी, हनुमान्‌जी और बन्दरों को परास्त करना। अब यहाँ पर हम 'गीता' का वह सूत्र जोड़कर देखें जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है और जिसमें काम के तीन अधिष्ठान बताये गये हैं। वैसे तो जब तक काम इन्द्रियों और मन इन दो अधिष्ठानों में रहता है, तब भी बड़ा घातक है, क्योंकि वह बार-बार सद्‌गुणों पर प्रहार कर उन्हें घायल करता रहता है। जब वह अपने पहले अधिष्ठान—इन्द्रिय—में रहता है तब दस-दस बाण चलाकर घायल करता है। 'दस' शब्द प्रतीकात्मक है। मनुष्य के शरीर में दस इन्द्रियाँ हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य के शरीर में काम का ऐसा भी आवेश आ सकता है, जब उसकी दसों इन्द्रियाँ काम की दिशा में चली जाएँ। यही मेघनाद के द्वारा दस बाणों का चलाया जाना है। ऐसी स्थिति में काम मनुष्य की सभी इन्द्रियों पर

अधिकार जमाने की चेष्टा करता है। यद्यपि इस अवस्था में काम से लड़ना आसान नहीं है, फिर भी लड़ा जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि शरीर को संयमित करने के लिए उपवास के द्वारा संयम की जो कला है, उससे व्यक्ति इन्द्रियजन्य काम पर विजय पा सकता है, और इसीलिए अनेक तपस्याओं एवं उपवास आदि का विधान किया गया है।

पर प्रश्न यह है कि जो व्यक्ति उपवास करता है, फलाहार करता है, भोजन में पवित्रता बर्तता है, उसके जीवन में क्या काम का सर्वथा अभाव हो जाता है? हमारे पुराणों और इतिहास-ग्रन्थों में वर्णन आता है कि बड़े-बड़े तपस्वियों के जीवन में भी काम आ गया। प्रश्न उठता है कि उनके जीवन में काम फिर कैसे आया? इसके उत्तर में 'रामायण' में यह दूसरा सूत्र दिया गया है कि मेघनाद जब हारने लगता है, जब वह देखता है कि दस-दस बाणों से घायल करने के बाद भी बन्दर नहीं मरे, जब वह सद्गुणों को पूरी तरह पराजित करने में असमर्थ हो जाता है, तब वह उछलकर ऊपर चला जाता है और अदृश्य हो जाता है। यह उसका दूसरा अधिष्ठान है, जिसे 'गीता' ने 'मन' कहकर पुकारा है। भले ही व्यक्ति यह सोचकर कि नेत्र से सौन्दर्य देखने से हमारे मन में वासना का संचार होता है, सौन्दर्य नहीं देखने का निर्णय लेकर नेत्रों को मूँद ले, पर क्या वह इसी प्रकार मन को मूँद सकता है? भले ही वह यह सोचे कि सुन्दर शब्द सुनने से मन में वासना की विकृति आती है, कान को मूँद ले, और इस तरह से प्रत्येक इन्द्रिय का निरोध करने की चेष्टा करे, पर उससे क्या मन का निरोध हो सकता है? सम्भव है कि जब वह एकान्त

में बैठे, तब सारी इन्द्रियों के अवरुद्ध हो जाने के बाद भी उसका मन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहे। इसका अर्थ क्या ? यही कि नेत्र से नहीं देख रहे हैं, कान से नहीं सुन रहे हैं, जिह्वा से आस्वाद नहीं ले रहे हैं, नासिका से गन्ध नहीं ग्रहण कर रहे हैं, पर मन के द्वारा उन सबका चिन्तन हो रहा है। ऐसी परिस्थिति में काम को जीतना और भी कठिन हो जाता है। यही मेघनाद का आकाश में अदृश्य हो जाना है। मन अदृश्य है, वह प्रत्यक्ष नहीं है। जब काम मन की गहराइयों में प्रविष्ट हो जाता है, तब इन्द्रियों पर नियमन कर लेने पर भी काम पर विजय प्राप्त नहीं होती है। किन्तु इस दशा में भी योगाभ्यास के द्वारा उस मन का नियमन किया जा सकता है। गोस्वामीजी वर्णन करते हैं कि मेघनाद अन्तरिक्ष में जाकर ऐसा विचित्र प्रयोग करने लगा कि सारे बन्दर स्तब्ध हो गये। बन्दरों को ऐसा लगा कि मेघनाद से पार पाने का कोई उपाय नहीं। काम का आक्रमण होने पर बड़े-बड़े सद्गुण-सम्पन्न व्यक्ति भी निराशा और पराजय का अनुभव करने लगते हैं। बन्दरों की मनःस्थिति ऐसी ही है; क्योंकि मेघनाद आकाश से विचित्र बाण चलाता है। बन्दरों ने ऐसे बाण तो देखे थे, जिनका प्रतिकार होता था। प्राचीन काल में लड़ने की यह एक कला थी। जैसे एक ओर के योद्धा ने बादल और वर्षा के लिए बाण चलाया, जिससे वर्षा होने लगे और उसमें शत्रु की सेना बह जाय, तो उसका निराकरण करने के लिए सामनेवाला योद्धा तुरत वायवास्त्र का प्रयोग करके बादलों को छिन्न-भिन्न कर अपनी सेना को वर्षा से बचा लेता था। इसी प्रकार यदि किसी ने पर्वतास्त्र का प्रयोग किया, तो सामनेवाला योद्धा वज्रास्त्र का

प्रयोग करता था। तब लड़ाई इसी तरह लड़ी जाती थी। पर मेघनाद से लड़ना बन्दरों को कठिन लगा, क्योंकि उसके बाण से आकाश से आग भी बरसती थी और साथ ही पृथ्वी से जलधारा भी फूटती थी। गोस्वामीजी लिखते हैं—

नभ चढ़ि बरष बिपुल अंगारा।
महि ते प्रगट होहिं जलधारा ॥६।५१।१

अब ऐसे योद्धा से कैसे लड़ा जाय, जो एक साथ आग और जल दोनों की सृष्टि कर दे? मनुष्य आग और जल से अलग-अलग तो बच सकता है, पर दोनों से एक साथ कैसे बचे? यदि भूमि पर नीचे अग्नि हो, तो मनुष्य जूता पहन-कर उससे बच सकता है. और यदि ऊपर से वर्षा होती हो, तो छाते से वह अपना बचाव कर सकता है। पर यहाँ तो क्रम ही उल्टा हो गया। आकाश से आग बरसने लगी और नीचे से जल का प्रवाह आने लगा। ऐसी दशा में छाता और जूता किस काम के? यही मेघनाद के युद्ध की कला है। इसका प्रतीकात्मक अर्थ यह है कि कामरूप मेघनाद जलरूप राग और अग्निरूप द्वेष की सृष्टि करता है। या तो व्यक्ति द्वेष से जलकर मरे या राग में डूबकर। मरना तो दोनों तरह से है। इसमें व्यंग्य यह है कि जल साधारणतया ठण्डा लगता है और आग गरम। पर मनुष्य यह भूल जाता है कि आग में गिरने से जैसे उसकी मृत्यु हो सकती है, वैसे ही जल में डूबकर भी, भले ही जल शीतल हो। द्वेष की ज्वाला का अनुभव तो हम सबको होता है, पर राग की शीतलता भी मनुष्य को डुबो देती है इसका अनुभव एकदम से नहीं हो पाता है। काम एक ओर तो राग उत्पन्न करता

है और दूसरी ओर द्वेष । जिस व्यक्ति या वस्तु के प्रति राग है, उसमें बाधक होनेवाले प्रत्येक व्यक्ति या वस्तु के प्रति द्वेष उत्पन्न हो जाता है । इसीलिए काम को जीतना इतना कठिन होता है । वह सूक्ष्म होकर, अदृश्य होकर, मन की ऊँचाई पर उठकर राग-द्वेष के द्वारा घात करता है । पर हनुमान्‌जी अन्तरिक्ष में भी मेघनाद का पीछा करते हैं । और हनुमान्‌जी हैं महायोगी । महायोगी मन पर नियमन कर लेता है । अत: योग की पद्धति के द्वारा मेघनाद की इस युद्ध-कला से भी जूझा जा सकता है । पर जब मेघनाद अपनी तीसरी युद्ध-कला के लिए प्रस्तुत होता है, तो वह सबसे खतरनाक स्थिति है । मेघनाद की पहली युद्ध-कला का तात्पर्य है इन्द्रियों में काम का आना । उसकी दूसरी युद्ध-कला का अर्थ है इन्द्रियों के साथ-साथ मन में काम का घुस जाना, काम के साथ राग और द्वेष का युक्त हो जाना । यह पहले की अपेक्षा और भी कठिन स्थिति है । उसकी तीसरी युद्ध-कला है निकुम्भिला में यज्ञ करने चले जाना । यह मानो काम का बुद्धि में प्रविष्ट होना है । यही भगवान् कृष्ण की दृष्टि में काम का तीसरा अधिष्ठान है । उसका अर्थ है काम की बौद्धिक स्वीकृति । इससे काम अजेय हो जाता है । काम को जीतने के लिए कम से कम बुद्धि से तो हमें यह लगना चाहिए कि राग-द्वेष अच्छी वस्तु नहीं है, इन्द्रियों में काम का होना बुरा है । यदि हम इन्द्रियों और मन में विकार के होते हुए भी बुद्धि के द्वारा उसका विरोध करेंगे, बुद्धि से उसे बुरा मानेंगे, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि भले ही समय लगे, पर बुराई को हम जीत सकते हैं, काम को पराजित कर सकते हैं । किन्तु जब हम बुद्धि और तर्क के द्वारा काम का समर्थन करने लगते हैं

और कहते हैं कि नहीं, काम तो जीवन के लिए सबसे उपयोगी वस्तु है, तब काम अजेय हो जाता है।

वर्णन आता है कि रावण के मंत्रियों में एक ऐसा भी था, जिसने कहा कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप चार फलों में काम ही सबसे सार्थक फल है और शेष तीन निरर्थक हैं। उसने विश्लेषण किया:—मोक्ष? यह तो बिलकुल बेकार का फल है, मरने के बाद मिलेगा भी या नहीं, यह किसने देखा है? मरने पर हो तो मुक्ति मिलेगी। अतः मोक्ष तो एक काल्पनिक फल है, जिसकी व्यर्थ की कल्पना में लोग लगे रहते हैं। फिर, धर्म का सुख भी उधारी सुख है। आश्वासन दिया जाता है कि ऐसे-ऐसे धर्म का पालन करो तो बाद में तुम्हें सुख प्राप्त होगा। अतः वह भी केवल आशा का ही विषय है, प्रत्यक्ष का नहीं। तीसरे, अर्थ का सुख भी भविष्य का सुख है। व्यक्ति सोचता है कि यदि हम कुछ संचित कर लें, तो बुढ़ापे में सुखी होंगे। अतः यह भी एक दूरगामी सुख है। वह तो काम ही है, जिसका सुख वर्तमान का है और प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। अतएव व्यक्ति को जीवन में इस काम-सुख का ही वरण करना चाहिए तथा अन्य किसी की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

यह भी बौद्धिक दृष्टि से एक तर्क है। आधुनिक युग में अनेक लोग काम के पक्ष में बड़े उत्कृष्ट तर्क करते हैं। लेकिन 'रामचरितमानस' की मान्यता यह है कि जब हम बुद्धि के द्वारा काम का समर्थन करेंगे, तो उसके प्रति हमारे मन में न ग्लानि का भाव रहेगा, न लज्जा का; उल्टे हमारे अन्तःकरण में अहंकार उत्पन्न होगा और हम बड़े गर्व से अपने काम का प्रदर्शन करेंगे तथा घोषणा करेंगे कि काम ही जीवन का सार-सर्वस्व है और उसके बिना जीवन

वृथा है ।

तो, यज्ञ पूरा कर मेघनाद कहीं अजेय न हो जाय इसलिए विभीषण श्री राम से कहते हैं—महाराज, यदि मेघनाद यज्ञ पूरा कर लेगा तो अभी जिन देवताओं पर वह आक्रमण कर रहा था, वे ही देवता उसकी पूजा से उसका समर्थन करने के लिए बाध्य हो जाएँगे और तब मेघनाद नहीं मारा जा सकेगा । यह सुन भगवान् राम लक्ष्मण को मेघनाद के, काम के वध का आदेश देते हैं । और काम कहाँ मारा गया ?—यज्ञस्थल में । यह भी बढ़िया संकेत है । भगवान् ने कहा कि बुद्धि में ही पहले काम को मारो । यज्ञस्थल बुद्धि का प्रतीक है । इससे भगवान् राम की आलोचना भी हुई । मेघनाद ने भी लक्ष्मण की आलोचना की, कहा कि जब मैं यज्ञ में बैठा हुआ हूँ, तब तुम मुझ पर प्रहार करते हो, यह तो धर्म के विरुद्ध है । जीवन में कभी ऐसे विचित्र अवसर आते हैं, जब धर्म का स्वरूप समझना कठिन हो जाता है । एक उदाहरण कर्ण का है । जब वह युद्ध कर रहा था, उस समय उसके रथ का पहिया जमीन में धँस गया । जब वह रथ से उतरकर पहिया निकालने लगा, तब भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा—बस, इसी समय इसे मारो, नहीं तो यह नहीं मरेगा । अर्जुन थोड़ा हिचकिचाता है—यह सोचकर कि जब कोई व्यक्ति निहत्था होकर अपने रथ का पहिया निकाल रहा हो, तब क्षात्रधर्म के अनुसार उस पर प्रहार कैसे किया जाय ? और यहाँ मेघनाद है, जो अस्त्र-शस्त्र त्यागकर यज्ञकुण्ड के सामने बैठा देवताओं के निमित्त मंत्रोच्चारण करता हुआ आहुति दे रहा है। उसे देख ऐसा लगता है कि वह सद्गुणों का समर्थक है, सद्वृत्तियों का पुजारी है । ऐसी स्थिति में

उस पर प्रहार किया जाना चाहिए या नहीं ? कर्ण को देखें तो वह धर्म के रथ पर आरूढ़ है। 'धर्मरथ' के प्रसंग में जितने गुण बतलाये गये हैं, उनमें अधिकांश कर्ण के जीवन में दिखाई देते हैं—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका ।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ।।६/७९/५

पर कर्ण का दुर्भाग्य यह है कि ऐसे धर्मरथ पर बैठकर भी वह अधर्म को जिताने के लिए युद्ध कर रहा है ! भगवान् कृष्ण का तात्पर्य यह है कि जिस समय कर्ण धर्मरथ से उतरा हुआ है, उसी समय उस पर प्रहार करना चाहिए, वही उसे मारने का उचित अवसर है। यदि तुम उसे इस प्रकार धर्म के द्वारा अधर्म को शक्ति प्रदान करने दोगे, तब तो तुम अधर्म को मार ही नहीं पाओगे। इसलिए अभी. इसी समय, तुम कर्ण को मारो।

ऐसी ही घटना मेघनाद के साथ भी घटती है। काम की प्रवृत्ति क्या है ? जब वह इन्द्रियों से सम्बद्ध है, तब भी उससे देवता जुड़े हुए हैं। गोस्वामीजी बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं। वे कहते हैं—

इन्द्री द्वार झरोखा नाना ।
तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना ।।
आवत देखहिं विषय बयारी ।
ते हठि देहिं कपाट उघारी ।।७/११७/११-१२

—'इन्द्रियों के द्वार हृदयरूपी घर के अनेकों झरोखे हैं। वहाँ-वहाँ देवता अड्डा जमाकर बैठे हैं। ज्योंही वे विषयरूपी हवा को आते देखते हैं, त्योंही हठपूर्वक किवाड़ खोल देते हैं।' तो, इस प्रकार इन्द्रियों से देवता जुड़े हुए हैं। और

मेघनाद यज्ञ में देवताओं को आहुतियाँ दे रहा है। तात्पर्य यह कि काम हमारे जीवन में समस्त देवताओं और सद्गुणों को आहुति देता हुआ यह तर्क देता है कि हम अकेले ही उपभोक्ता थोड़े ही हैं, हम तो तुम सबको भी भाग दे रहे हैं। और अन्त में यह काम करेगा क्या? देवताओं से शक्ति प्राप्त करके देवताओं को ही मारेगा, बन्दरों को मारेगा। अभिप्राय यह कि देवताओं के एक रूप से—उनका जो स्वर्गस्थ भोगी रूप है उससे—शक्ति प्राप्त करेगा और उनका जो भगवत्सेवक रूप है—जिसके अन्तर्गत वे बन्दर बनकर भगवान् राम की सेवा कर रहे हैं—उसे मारेगा। देवताओं का पहला रूप है भोगयुक्त सद्गुणों का और दूसरा रूप है सेवायुक्त सद्गुणों का। मेघनाद का, काम का दर्शन यह है कि भोगयुक्त सद्गुणों को साधकर शक्ति प्राप्त की जाय और सेवा करनेवाले सद्गुणों को जीवन से विनष्ट कर दिया जाय।

गोस्वामीजी लिखते हैं—जब लक्ष्मणजी मेघनाद के उस यज्ञस्थल में पहुँचे, तो वहाँ यज्ञ की जितनी सामग्री थी उसे नष्ट करने का उन्होंने बन्दरों को आदेश दिया। इसमें सांकेतिक तात्पर्य यह है कि जिन देवताओं की पूजा के लिए वह सामग्री रखी हुई थी, वे ही तो बन्दरों के रूप में भी हैं। इसीलिए लक्ष्मणजी ने बन्दरों से कह दिया कि यह नैवेद्य तो तुम लोगों को ही भोगस्वरूप लगाया गया है, अतः इसे तुम्हीं लोग नष्ट कर डालो। इसका अर्थ क्या? यही कि यदि कोई किसी को निमंत्रण देकर भोजन करा रहा हो और यदि उस भोजन में विष मिला दिया गया हो, तो निमंत्रित व्यक्ति को यह बात मालूम पड़ने पर वह दूसरे किसी की प्रतीक्षा थोड़े ही करेगा कि वह आकर

भोजन को नष्ट करे, वह स्वयं ही उसे तत्काल विनष्ट किये बिना नहीं रहेगा। तो, यहाँ पर गोस्वामीजी संकेत करते हैं कि लक्ष्मणजी की प्रेरणा से, वैराग्य की प्रेरणा से वानररूप देवता स्वयं अपने भाग को विनष्ट कर देते हैं। मेघनाद कुछ देर तक तो स्थिर बना रहता है, शान्त बना रहता है, यज्ञ की सामग्री के नष्ट कर दिये जाने पर भी वह नहीं उठता। तब, गोस्वामीजी लिखते हैं, बन्दर उसकी प्रशंसा करने लगते हैं—

जब न उठइ तब करहिं प्रसंसा। ६/७५/२

—बन्दरों ने सोचा था कि शायद अपनी प्रशंसा सुनकर वह मुँह खोल दे। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि वैसे तो चाहे वे मौन रहें, पर प्रशंसा उन्हें बोलने के लिए उत्साहित कर देती है। पर मेघनाद प्रशंसा सुनकर भी नहीं उठा। तब तो लक्ष्मणजी ने आदेश दिया कि उसका श्रृंगार विनष्ट कर दो। इस पर जब बन्दर मेघनाद के बाल पकड़कर खींचने लगे, तब—

लै त्रिसूल धावा। (६/७५/४)

—वह त्रिशूल लेकर लक्ष्मणजी की ओर दौड़ा। ऐसे समय लक्ष्मणजी भगवान् राम का स्मरण कर ऐसा बाण चलाते हैं, जिससे उसका काम तमाम हो जाता है। उस बाण का तात्पर्य यह है कि भगवान् का स्मरण करके वैराग्य काम पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है। इससे बुद्धिस्थ काम नष्ट हो जाता है और फलस्वरूप इन्द्रिय और मन में जो काम था, वह भी शीघ्र नाश को प्राप्त होता है। तो, जैसे यह बात काम के सन्दर्भ में कही गयी, वही प्रत्येक विकार के सन्दर्भ में कही जा सकती है। विकार जब तक हमारे मन में और इन्द्रियों में है, तब तक समस्या उतनी

गम्भीर नहीं है, पर जब हम बुद्धि के द्वारा उस विकार का समर्थन करने लगते हैं, तो समस्या विकराल हो जाती है। 'रामचरितमानस' में यह संकेत दिया गया है कि भोग और त्याग दोनों धर्म के रूप में व्यक्ति के सामने आते हैं। यदि भोग को व्यक्ति बाध्यता समझकर, अपनी मन की दुर्बलता समझकर भोगता है, तो वह बच जाएगा, पर यदि वह भोग को बौद्धिक समर्थन देता हुआ भोगता है, तो उसमें लिप्त हो जाएगा और डूब मरेगा।

यह विश्लेषण केवल इतना संकेत देने के लिए था कि मनु के पुत्र ने पिता की आज्ञा होते हुए भी राज्य को स्वीकार करने में हिचकिचाहट दिखलायी, और सत्यकेतु के पुत्र ने पिता के राज्य को अपना अधिकार मानकर ग्रहण कर लिया। मनु के पुत्र में राज्य-लिप्सा का अभाव था, इसलिए उसने बाध्यता में राज्यसत्ता स्वीकार की। परन्तु प्रतापभानु में अधिकार-लिप्सा थी, लोभ था, इसलिए उसने राज्य-सत्ता को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं की, उल्टे उसे अपना प्राप्य मानकर स्वीकार किया। प्रतापभानु का यह लोभरूप कफ ही उसके विनाश का कारण होता है और उसे अन्त में रावण बना देता है।

(क्रमशः)

○

"मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—मानुष और 'मन-होश'। जो मनुष्य भगवान् के लिए व्याकुल होते हैं, वे 'मन-होश' हैं; और जो कामिनी-कांचन के पीछे पागल बने रहते हैं, वे साधारण मानुष हैं।"

—श्रीरामकृष्ण

प्रो० रा. द. रानडे—एक व्यक्ति—

श्रीमती शोभना जोशी

(३९/ए-६, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली-६२)

सिंहों के लेहड़े नहीं, हंसों की नहिं पाँत ।
लालों की नहिं बोरियाँ, साधु न चलै जमात ।।

प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे का व्यक्तित्व लोक-विलक्षण था । निम्बाल की प्रशान्त बंजर भूमि पर शुभ्र वस्त्र परिधान किये, एक हाथ में हरी शाल तथा दूसरे में छाता लिये, पैरों में पिचकी एड़ी का मराठी जूता पहने तथा विद्युल्लता की चपलता से चलनेवाले रानडेजी की छवि अनेकानेक लोगों के मन:पटल पर अंकित होगी । उनके निकतवर्ती लोगों को पता था कि वे दूर, प्रकृति की नीरवता में, ध्यान करने जा रहे हैं । लेकिन यह कोई नहीं बता सकना था कि कितने समय के लिए । जब तन और मन समाधि की सतह तक पहुँचकर प्रफुल्लित हो जाते, तब वे लौट आते थे ।

दूर-दूर तक फैला हुआ निम्बाल का वह मैदान, कहीं-कहीं दिखाई देनेवाले छोटे-छोटे खेत, आठ-दस बंजारी लोगों की झोंपड़ियाँ, बहनेवाली तूफानी हवा और स्वच्छ-शान्त वातावरण—यही इस आधुनिक सन्त की तपोभूमि थी । उन दिनों वहाँ पर विजली का प्रबन्ध नहीं था । पानी के लिए घर के पिछवाड़े बहता एक छोटा-सा नाला था और था एक कुआँ । आश्रम से दूर, दो-चार फर्लांग चल-कल, सोलापुर-बीजापुर चलनेवाली छोटी लाइन की पटरियाँ और निम्बाल का छोटा-सा स्टेशन । इस विशिष्ट देहाती वानावरण के बीच प्रो० रानडे जैसे साक्षात्कारी

सन्त का निवास किसी साधारण से तालाब में राजहंस के समान लगता था।

प्रो० रानडे एकान्तप्रिय थे। निम्बाल में उन्होंने एक सिद्ध साधु की भूमिका में कदम रखा। लेकिन अपनी साधनावस्था में भी वे फर्ग्युसन कालेज के पिछवाड़े सुनसान पहाड़ियों पर ध्यान-धारणा करने के लिए चले जाते थे। इलाहाबाद में दूर गंगातट पर या शहर के बाहर कहीं एकान्त में वे आत्मचिन्तन करने निकल पड़ते थे। खास इसी उद्देश्य से वहाँ उन्होंने एक कार खरीदी थी, जिसे वे 'metamorphosed cave' (रूपान्तरित गुफा) कहा करते थे। अक्सर वे उसी में बैठकर ध्यान किया करते। डेक्कन कालेज में वे अपने कमरे में बैठकर ध्यान-धारणा करते थे और दरवाजे पर लिखा होता था—"अन्दर नहीं हूँ"। एक बार उनके निकट सहपाठी को जब इस बात का पता चला, तब उन्होंने पूछा, "क्या ऐसा लिखना झूठ नहीं है?" रानडेजी तुरन्त बोले, "सचमुच मैं उस समय किसी का भी नहीं होता हूँ। मेरा वहां होना नहीं होने के बराबर ही है।" इस महान् योगी ने अपने जीवन का ध्येय युवावस्था में ही निश्चित कर लिया था। अपने 'The Evolution of My Own Thought' नामक निबन्ध में वे कहते हैं—"Spiritual life has been my aim from the beginning of my philosofic career and let me hope that it would be its culmination also" 'अपने दार्शनिक चिन्तन की शुरुआत से ही आध्यात्मिक जीवन मेरा लक्ष्य रहा है और मैं आशा करता हूँ कि वही उसकी परिपूर्णता भी होगा।' एक बार किसी विदेशी पत्रकार ने प्रो० रानडे से पूछा, "What do you be-

lieve ?" (आपका विश्वास क्या है ?) उन्होंने कहा, "I do not believe, I porceive" (मैं विश्वास नहीं, दर्शन करता हूँ)। इस मार्मिक उत्तर से यह स्पष्ट होता है कि जिस आदर्श को उन्होंने चुना था, वह उन्होंने प्राप्त किया था।

एक दिन रानडेजी निम्बाल में अपने घर में बैठे थे। चेहरे पर स्मितहास्य था। दृष्टि कहीं दूर आनन्दलोक में टिकी हुई थी और वे अपने आप से "आत्मरतिः आत्मक्रीडः आत्मन्येवात्मना तुष्टः" गुनगुना रहे थे। इसका स्पष्टीकरण अपने नजदीक बैठे हुए शिष्य से करते हुए उन्होंने कहा, "साक्षात्कारी सन्त अपनी ही आत्मा के साथ खेलता है, मस्त होता है। वह स्वयं ही अपना मित्र होता है और अपने ही आनन्द में मग्न रहता है, अपना मनोरंजन वह स्वयं ही करता है।"

प्रो० रानडे केवल आत्मचिन्तन में ही डूबे नहीं रहे। लोककल्याण के लिए उन्होंने मौलिक ग्रन्थों की रचना की। तत्त्व-चिन्तन और उसके शोध-कार्य के लिए उन्होंने 'अध्यात्म विद्या मन्दिर' की स्थापना की। देखकर आश्चर्य होता था कि ऐसी कृशकाया कठोर साधना और अविरत काम कैसे कर सकती है? ब्रह्मानन्द के अखण्ड स्रोत में उन्होंने जीवन की कमियों को खूबी से मिटाया। यही नहीं, बल्कि वह स्रोत अनेकानेक लोगों का जीवन उन्नत बनाने में यशस्वी हुआ। उनके अन्दर प्रस्फुटित आत्मानन्द जीवन की सभी दिशाओं में झलकता था।

प्रो० रानडे गौरवर्णीय, आजानुबाहु और छोटे कद के व्यक्ति थे। यक्ष्मा जैसी भयानक व्याधि ने उनका शरीर अस्थिपंजर कर दिया था। फिर भी अपने तपोबल के

कारण उनकी आँखों का तेज, शरीर की चपलता और साधना की दृढ़ता आखिर तक बनी रही।

उनका भोजन एक रहस्यात्मक बात थी। १९२० की बीमारी के बाद उन्होंने अपना भोजन अत्यन्त अल्प कर दिया। कभी-कभी रोटी का एकाध टुकड़ा, दाल का एक-दो चम्मच पानी और थोड़ा-सा भुना हुआ पापड़, बस यही उनका भोजन था। अधिकतर चाय पर ही वे अपना निर्वाह करते थे। कई बार चाय वे खुद बनाते थे। चाय में दूध, पानी, चाय की पत्ती, दालचीनी, सोंठ वगैरह अन्दाज से और अपनी सेहत के अनुसार डालते थे। फिर वह चाय वे सबको बाँटते थे। एक बार पूना के डा० गोडे वहाँ पर मौजूद थे। उन्होंने कहा, "रामभाऊ (रानडेजी), आपकी चाय में spiritual flavour (आध्यात्मिक स्वाद) है।"

एक बार डा० भावे ने रानडेजी से पूछा, "आदमी को कम से कम २५०० कैलारी ऊर्जा की आवश्यकता है और आप तो २५० कैलारी के लायक अन्न भी ग्रहण नहीं करते, तो आप किस आधार पर स्फूर्तिपूर्वक इतना काम करते हैं?" रानडेजी ने कहा, "There are sources of energy other than food. I can tap them, others cannot" (अन्न के अलावे ऊर्जा के स्रोत अनेक हैं। मैं उनका लाभ ले लेता हूँ, दूसरे नहीं ले पाते)। जैसा उनका भोजन प्रश्नात्मक था, वैसी ही थी उनकी नींद। रात को वे एक-दो घण्टे ही सोते होंगे,बाद में होता ग्रन्थ-लेखन या ध्यान।

ग्रन्थ-लेखन के लिए नोट्स निकालना, किताबें पढ़कर सुनाना इत्यादि काम अक्सर उनके घर पर रहनेवाले विद्यार्थी करते थे। वे लोग बतलाते हैं, "रानडेजी इतने कुशाग्रबुद्धि थे कि एक बार पढ़ा हुआ उन्हें पूरा-पूरा याद

रहता था। वाद में ग्रन्थ-लेखन के समय उनके मुख से जल-धारा के समान शब्द बरसते थे।" रानडे महोदय के घर हमेशा आठ-दस विद्यार्थी रहा करते थे। उनका खर्च वे स्वयं उठाते थे। ऐसे कई विद्यार्थी आज भी हैं, जिन्हें गरीबी से उठाकर रानडेजी ने नया जीवन दिया।

रानडेजी का अध्ययन इतना गहन था कि वे अत्यन्त आत्मविश्वास के साथ पढ़ाते थे। डा० म. स. मोडक का, जो १९१६ से १९२० तक फर्ग्युसन कालेज (पूना) में प्रो० रानडे के विद्यार्थी थे, एक संस्मरण यहाँ पर उल्लेखनीय है। वे कहते हैं, "प्लेटो पढ़ाते समय वे पुरानी ग्रीक भाषा ब्लैकबोर्ड पर बड़ी तेजी से लिखते थे और उसके अन्तर्गत विचारों का विवरण इतना सुगम और सुस्पष्ट कर देते थे कि ग्रीक तत्त्ववेत्ताओं की विशेषता आसानी से समझ में आ जाती थी। एक बार सिज़विक का 'हिस्टरी ऑफ एथिक्स' ग्रन्थ पढ़ाते समय उन्होंने हमें एक पूरा परिच्छेद काट देने को कहा, 'Strike out this paragraph from your books; Sidgwick is wrong here' (इस पैराग्राफ को अपनी किताबों में काट डालो, सिज़विक यहाँ पर गलत कहते हैं)। वे बड़ी तेजी से बोलते थे, इसलिए विद्यार्थियों को उनके ज्ञान का लाभ उठाने के लिए सतर्क रहना पड़ता था। . . . उस समय भी विद्यार्थियों को यह प्रतीत होता था कि रानडेजी केवल दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर नहीं हैं अपितु श्रेष्ठ कोटि के आत्मज्ञ हैं।"

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उन्होंने सन्त कवियों की अध्ययन-पद्धति का एक नया अभियान ही शुरू किया था। ऐसे कई विद्यार्थी थे, जिन्होंने प्रो० रानडे की प्रेरणा से अपनी पीएच.डी. के लिए एक-एक सन्त और उसका

साहित्य विषय के रूप में चुना था । डा० एस. एल. पाण्डे अपने लेख में कहते हैं, "ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि प्रो० रानडे हिन्दी सन्त-साहित्य के शोध-कार्य के प्रणेता थे ।" प्रो० रानडे हिन्दी भाषा और साहित्य के अभ्यस्त नहीं थे, लेकिन मर्मज्ञ थे । हिन्दी के कई जाने-माने विद्वान् उनसे हिन्दी सन्तों के पदों का अर्थ पूछने आते थे, क्योंकि यह बात सर्वविदित थी कि रानडे महोदय रहस्यवाद के परम ज्ञानी हैं ।

इलाहाबाद में रानडेजी से मिलने बड़ी-बड़ी हस्तियाँ आती थीं। एक बार भूतपूर्व राष्ट्रपति सर डा० एस. राधाकृष्णन् उनसे मिलने आये । रानडेजी अपने कमरे में ध्यान-मग्न थे । डा० राधाकृष्णन् ने रानडेजी को ध्यान से उठाने से मना किया । डा० राधाकृष्णन् स्वयं एक विद्वान् थे और ध्यान-धारणा का महत्त्व भलीभाँति जानते थे । वे उनका इन्तजार करते हुए बाहर के कक्ष में बैठे रहे । कुछ देर बाद जब रानडेजी अपने कक्ष से बाहर आये, तो दोनों में प्रेम-पूर्वक वार्तालाप हुआ । उनके चले जाने के बाद रानडेजी के शिष्य ने उनसे पूछा, "सर डा० राधाकृष्णन् के आने पर भी हमने आपको ध्यान से नहीं उठाया, क्या यह उचित था ?" रानडेजी ने कहा, "The duty towards God is the first and foremost duty" (ईश्वर के प्रति कर्तव्य प्रथम और सर्वोच्च कर्तव्य है) ।

रानडेजी एक फकीर थे, औलिया थे । ईश्वरानुराग में दीवाने हो गये थे । उन्होंने अपनी सेहत की परवाह नहीं की, क्योंकि उन्होंने हरि-रस पिया था और उसे बार-बार प्राप्त करने के लिए वे बेचैन हो जाते थे । इस प्रेमरस ने तो कई भक्तों को बावला बना दिया। गोकुल की ग्वालिनें

वृन्दावन की गलियों में दही बेचते समय कहतीं––

दधि को नाँव बिसर गइ ग्वालिनि
'हरि ल्यो' 'हरि ल्यो' बोलै ।।

रानडे महोदय ने बीस साल से भी अधिक समय तक विद्यार्थियों को दर्शनशास्त्र पढ़ाया, अनेक सन्तों की विचार-सम्पदा पर ग्रन्थ-रचना की, उपनिषद्, भगवद्गीता और वेदान्तसूत्रों पर भाष्य लिखे, अनेक स्थानों पर व्याख्यान दिये और बहुतों के साथ परमार्थ-संवाद किया; लेकिन उन सब पर तत्त्वज्ञान का केवल एक परदा था और ध्यान से सुनने पर तो 'हरि ल्यो' 'हरि ल्यो' यही स्वर ध्वनित होता था।

रानडेजी का रहन-सहन सादगी का ज्वलन्त उदाहरण था। निम्बाल में उनके मकान में प्रवेश करते ही उनके सद्गुरु श्री भाऊसाहेब महाराज की तसवीर दिखाई देती थी। उसी के नीचे भूमि पर शुभ्र ढीले-ढाले वस्त्रों में रानडेजी की कृशकाय मूर्ति दीख पड़ती। किसी भी दर्शनार्थी को सहसा कबीरदास की वह पंक्ति याद आ जाती होगी–– 'जाके दरसन साहब दरसै'। उनके चेहरे पर प्रेम और ममता की शीतलता तथा आँखों में अनुभूति की अद्भुत दीप्ति थी, जो सीधे दर्शक की अन्तरात्मा को छूकर उसका एक न एक तार झंकृत कर देती थी। निःसन्देह वे एक मधुरात्मा थे। कोई भी दर्शक उनके प्रति सहज आकर्षित हो जाता और उनसे परिचय पाने की इच्छा करता। लेकिन रानडेजी जब चाहे तब मिलनेवाले व्यक्ति नहीं थे। "रहै आज़ाद या जग में, हमन दुनिया से यारी क्या"––यह उनका सिद्धान्त था। पर इसका मतलब यह नहीं था कि वे निष्ठुर थे। ध्यान-धारणा और ग्रन्थ-लेखन से जो थोड़ा समय

बचता, उसमें वे लोगों से मिलने और अध्यात्म के बारे में चर्चा करते थे। उनकी आध्यात्मिक परिचर्चा के लिए 'सिटिंग' शब्द प्रचलित था, जिसकी घण्टी बजते ही दर्शक सहसा खिंचता हुआ उनके कक्ष में आकर बैठ जाता था।

'सिटिंग' में होनेवाली परिचर्चा के माध्यम से वे परमार्थ की गहन बातों को स्पष्ट करते थे। वहाँ पर लोग उनसे ज्ञानेश्वरी, भगवद्गीता आदि ग्रन्थों तथा ध्यान-धारणा के बारे में प्रश्न पूछते थे। प्रश्न पूछनेवालों में प्रोफेसर, डाक्टर, वकील आदि बुद्धिजीवी लोग रहते थे। उनके प्रश्न भी जिज्ञासापूर्ण होते थे। प्रश्न जितना जटिल होता था, उत्तर उतना ही सरल।

एक बार रानडेजी के एक घनिष्ठ मित्र ने उनसे पूछा, "मनुष्य जीवन का उच्चतम ध्येय क्या है?" उन्होंने कहा, "किसी का ध्येय विद्यार्जन होता है, तो किसी का धनोपार्जन। इस प्रकार अनेक ध्येय हो सकते हैं, लेकिन ये सब नश्वर हैं। ध्येय ऐसा होना चाहिए, जिसे प्राप्त करने के बाद और कोई ध्येय ही न रहे। ऐसा ध्येय है ईश्वर-प्राप्ति। उसे प्राप्त करने के लिए कितनी भी कठिनाइयों का सामना क्यों न करना पड़े, पर साधक को उसकी परवाह नहीं करनी चाहिए।" स्वाभाविक ही प्रश्न उठता था कि ईश्वर-प्राप्ति कैसे करनी चाहिए? एक बार उनके एक शिष्य ने पूछा, "शास्त्रों में ईश्वर-प्राप्ति के अनेक मार्ग बताये हैं, आपकी इस बारे में क्या राय है?"

रानडेजी ने बड़े उत्साह के साथ दोनों हाथ ऊपर करके दृढ़ निश्चयपूर्वक उपनिषद्-वचन दोहराया, "नान्यः पन्था विद्यते अयनाय (इसे छोड़ कोई दूसरा रास्ता नहीं है)। सद्गुरु के द्वारा नाममंत्र प्राप्त करके उसका अविरत

चिन्तन करना ही ईश्वर-प्राप्ति का एकमेव मार्ग है ।"

जब प्रश्नोत्तर में चर्चा गम्भीर रूप लेने लगती, तब रानडेजी किसी को भजन गाने के लिए कहते थे । उससे वातावरण हल्का हो जाता था । गाने में ताल और सुर से कई गुना अधिक महत्त्व भक्ति और भाव को दिया जाता था । सभा में कन्नड़, मराठी तथा हिन्दी तीनों भाषाओं के भजन गाये जाते थे । उन्हें आत्मानुभूतिपरक पद ज्यादा पसन्द थे । उन्हें वे तन्मयता से सुनते और उनके मर्म को स्पष्ट कर देते । वे कहते कि आत्मानुभूतियों का वर्णन कोई कवि-कल्पना नहीं है, बल्कि भाव-भक्ति से ईश्वर का नाम-स्मरण करने पर ईश्वर अनेक रंगों और रूपों में भक्त के सामने प्रकट होता है । उनके स्वानुभूति पर आधारित विवरण से श्रोताओं के मन में एक स्फूर्ति आ जाती । ऐसा लगता कि ईश्वर का कोई जीता-जागता सन्देश-वाहक उनके सामने प्रकट हुआ है । उनके भक्तिपूर्ण शब्दों में अवगाहन करने पर लोगों के मन का मायापटल कुछ देर तक दूर हो जाता था । धूप और अगरबत्ती के सुगन्धित वातावरण में साधकों से भरा हुआ वह कक्ष मन्सूर के शब्दों में 'मस्तों का मयखाना' लगता था । उस सन्तसभा में रानडेजी ने न कभी उच्चासन ग्रहण किया, न कभी दक्षिणा ली । रानडेजी पुरुष या महिला किसी को अपना चरण-स्पर्श नहीं करने देते थे ।

धर्मग्रन्थों के बारे में उनका ज्ञान अगाध था । वे केवल भारतीय ही नहीं अपितु पाश्चात्य दर्शनशास्त्रों के भी विद्वान् थे और आध्यात्मिक क्षेत्र में उच्चकोटि के आत्म-साक्षात्कारी सन्त थे । पर प्रायः लोग उनके पास जाने और उनसे प्रश्न पूछने से कतराते थे । फिर भी साधना

करनेवाले लोग उनसे आत्मीयता महसूस करते थे। रानडे-जी कहते,"I love only God's men and none else" (मैं केवल ईश्वर के जनों से प्रेम करता हूँ, अन्य किसी से नहीं)।

रानडेजी के गुरुबन्धु श्री काकासाहेब कारखानीस ने एक बार उनसे पूछा, "ज्ञानेश्वरी में मायावाद है या चिद्-विलासवाद?" उन्होंने उत्तर दिया, "क्यों व्यर्थ इन प्रश्नों में उलझते हो? सर्व धर्मग्रन्थों का सार एक ईश्वर का नाम है। भक्तियुक्त अन्तःकरण से उसका स्मरण करो और ईश्वर को प्राप्त कर लो।" इस प्रकार बार-बार भक्ति और नाम-स्मरण पर जोर देते हुए वे सहसा अपने कमरे में ध्यान करने चले जाते।

लागी लागी सब कहैं, लागी बड़ी बलाय।
लागी वही सराहिये, आरपार हो जाय॥

—'लग गयी', 'लग गयी' सब कहते हैं, पर लगन एक बड़ी बला है। लगन तो वही प्रशंसनीय है, जिससे व्यक्ति भवसागर पार कर ले।

रानडेजी को यह 'लागी' लगानेवाले कौन थे? उन्हें परमार्थ का पथ दिखानेवाले कौन थे? उनके मन में ज्ञान का दीपक जलानेवाले कौन थे?—उनके सद्गुरु श्री भाऊसाहेब महाराज।

रानडेजी पर गुरुभक्ति का पक्का रंग चढ़ा था। १९०१ में उन्होंने श्री भाऊसाहेब महाराज से मूलमंत्र लिया। तब से १९५७ तक उन्होंने अविरत और अत्यन्त श्रद्धा से नाम-साधना की। प्रथमतः उनकी भक्ति कुछ सकाम थी। लेकिन जैसे-जैसे वे साधना-पथ पर अग्रसर हुए, उसकी परिणति 'गुरुः साक्षात परब्रह्म' इस उच्च

अवस्था में हो गयी। जब जब विपत्ति आयी, वे सद्गुरु की शरण आये और सद्गुरु ने उन्हें सहारा दिया। इतना ही नहीं, उन्हें आत्मसाक्षात्कार भी प्रदान किया।

रानडेजी ने पुत्र, पत्नी और माता की मृत्यु का सदमा सह लिया, लेकिन अपने सद्गुरु के निधन पर आँसू बहाये। सद्गुरु की याद में उनका तकिया आँसुओं से भीग जाता। वैसे तो रानडेजी की सेहत अल्ला-माशा ही थी, लेकिन जब कभी श्री भाऊसाहेब महाराज के बारे में बात निकलती, उनमें अपार उत्साह आ जाता था और उनकी बातों में सारी रात बीत जाती थी। श्री अम्बुरावजी कहते, "राम-राया (रानडेजी), तेरी गुरुभक्ति श्रेष्ठ है।" रानडेजी ने अपने गुरु के पत्र किसी अनमोल खजाने की तरह सम्हाल रखे थे। कभी-कभी 'सिटिंग' में उनमें से किसी पत्र पर पारमार्थिक कथोपकथन भी होता। एक बार गद्गद हो रानडेजी ने कहा, "I would not have become what I am today had I not come in contact with Shri Maharaj" (यदि मैं श्री महाराज के सम्पर्क में न आता, तो आज जो मैं हूँ वह नहीं हो पाता)। अपने निर्वाण के दिन सवेरे, भले ही उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया था, फिर भी कार से वे इंचगेरी के रास्ते दूर तक गये। वहाँ पर घण्टा-दो घण्टे ध्यान करके अपने सद्गुरु के पुण्यपावन स्थल को अन्तिम भावांजलि अर्पण कर निम्बाल लौटे।

अपने ऐसे अनन्य भक्त पर श्री भाऊसाहेब महाराज ने अपार कृपावृष्टि की! इलाहाबाद में सम्मान की नौकरी दी और आत्मानुभूतियों का अनमोल भण्डार दिया। वे सद्गुरु भी धन्य हैं और उनके शिष्य भी।

'श्वेताश्वतर उपनिषद्' कहता है--

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः,
प्रकाशन्ते महात्मनः ॥६/२३

—परमेश्वर में जिसकी अत्यन्त भक्ति है तथा गुरु में भी उसी प्रकार भक्ति है, ऐसे महात्मा पुरुष के अन्तःकरण में ही ये कहे हुए रहस्य प्रकाशित होते हैं, ऐसे महात्मा का हृदय ही उन रहस्यों से जगमगाता रहता है ।

○

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम ए.

(१) जहाँ धर्म बल है वहाँ

सिक्ख गुरु गोविन्दसिंह एक के बाद एक किले जीतते हुए जब सरहिन्द शहर पहुँचे, तो सैनिक चिल्ला उठे, "यही वह स्थान है, जहाँ छोटे कुमारों को जीते-जी दीवार में चुनाया गया था। अब हमें भी बदला लेना चाहिए। हमें इस शहर में आग लगाकर इसे नष्ट कर देना चाहिए।"

गोविन्दसिंहजी ने सुना, तो उन्हें बेहद दुःख हुआ। उन्होंने कहा, "भाइयो, मैं तुम्हारी मनःस्थिति को समझता हूँ। मगर जरा सोचो कि इस शहर की जनता ने क्या हमारा कुछ बिगाड़ा है, जो हम उनसे बदला लें और उन्हें कष्ट पहुंचाएँ? यह तो अन्याय और अधर्म हुआ। यदि कोई अधर्म का आचरण करे, तो क्या हम भी उसका अनुकरण करें? सच्चे धर्मवीरों को अनुचित कर्म करना कदापि शोभा नहीं देता। रही बात कुमारों को दीवारों में चुनवाने की, तो हमने उस आघात को सहन कर लिया है। हम जो लड़ रहे हैं, उसके पीछे प्रतिशोध की भावना नहीं है, तब हम निर्दोष लोगों को नुकसान क्यों पहुँचाएँ? हमने हथियार अन्याय और अत्याचार के खिलाफ उठाये हैं। ये हथियार हम तब तक चलाएँगे, जब तक हमें नीति में कोई सुधार दिखाई नहीं देता। ज्योंही हमारा शत्रु अपनी रीति-नीति में सुधार करता है, त्योंही हमारी शत्रुता समाप्त हो जाएगी।"

(२) श्रम से दुख रुज सब मिटै

सुप्रसिद्ध दार्शनिक सन्त कन्फ्यूशियस के बुद्धिमान् शिष्य चाँग-हो-चाँग एक बार भ्रमण को निकले। लोगों के

दैनन्दिन जीवन की जानकारी प्राप्त कर उपयुक्त वातावरण निर्माण करना उनके भ्रमण का उद्देश्य था। घूमते-घूमते वे ताइवान पहुँचे। वहाँ एक स्थान पर उन्होंने एक युवा माली को कुएँ से बाल्टी-बाल्टी पानी निकालते पाया। वे थोड़ी देर रुक गये। उन्होंने देखा कि वह माली पानी को स्वयं ढोकर हर पौधे को सींच रहा था। पसीने से वह तर हो गया था, लेकिन अभी भी बहुत से वृक्षों में पानी सींचना बाकी था। चाँग को उस पर दया आयी, सोचते रहे कि क्या कोई ऐसा उपाय नहीं कि पौधों को कम समय में सींचा जाए और माली को इतना श्रम न करना पड़े।

चाँग के मन में विचार आया कि लकड़ियों की एक घिर्री बनाकर एवं उसमें रस्सी लपेटकर खड़-खड़ पानी खींचा जाए और कुएँ के पास से ही प्रत्येक पेड़ तक नाली खोद दी जाए, तो माली को इतना परिश्रम न करना पड़ेगा। उन्होंने अपना यह सुझाव माली को बताया। उसे वह पसन्द आया। थोड़ी ही देर में उसने घिर्री की व्यवस्था की। नाली भी खोदी गयी तथा नाली से प्रत्येक वृक्ष तक पानी पहुँचने लगा।

चाँग सन्तुष्ट हो आगे बढ़े, मगर रास्ते में सोचते रहे कि क्या इसके श्रम की और बचत नहीं की जा सकती और तब उनके मन में विचार आया कि यदि कुएं में भाप से चलनेवाली मशीन डाल दी जाए, तो उसका श्रम काफी कम हो जाएगा तथा वृक्षों को पानी भी खूब मिलने लगेगा। लौटकर उन्होंने माली को इस सुझाव पर विचार करने को कहा। माली को सुझाव पसन्द आया और उसने चाँग को इसे अमल में लाने का आश्वासन दिया। चाँग वहाँ से

आगे बढ़ गये।

काफी समय बीत गया और एक दिन चांग को उस माली का ख्याल आया। वे सोचने लगे कि बगीचा अब लहलहाता होगा, इसलिए क्यों न प्रत्यक्ष वहाँ जाकर देख आया जाए। वे जब वहाँ गये, तो यह देख चकित हुए कि बगीचे की हालत कोई अच्छी नहीं है। माली हरदम बीमार रहता है और वृक्षों को पानी नियमित रूप से नहीं मिल रहा है। वे जब उसके घर गये, तो उन्होंने देखा कि माली काफी कमजोर हो गया है और उसके हाथ-पैर सूख गये हैं। उसमें पहले जैसा उत्साह भी नहीं रह गया था। उन्होंने हँसते हुए माली से पूछा, "भाई, तुम्हारे समय की बचत होने पर भी तुम्हारी ऐसी हालत कैसे हो गयी? क्या कोई और तरकीब सोचने की जरूरत है, जिससे तुम्हें और आराम मिले?"

माली की स्त्री पास ही खड़ी थी, झल्लाकर बोली, "श्रीमान्‌जी, तरकीबें लड़ाना बहुत हो चुका। इसके बजाय यदि आप ऐसी सीख दें कि ये पहले जैसे हो जाएँ और अपने हाथों से ही काम करने लगें, तो इनकी हालत में सुधार हो सकता है। यही आपकी हम पर मेहरबानी होगी। घिर्री और भाप की मशीन ही इनकी बीमारी का कारण है।" चाँग ने जो सुना, तो सोचने लगे कि क्या उनके सुझाव ही माली की इस हालत के लिए कारणीभूत हैं? और तब उन्होंने महसूस किया कि यदि मनुष्य परिश्रम न करे और हाथ पर हाथ धरे मशीनों पर निर्भर रहे, तो वह कभी स्वस्थ नहीं रह सकता। उन्होंने माली दम्पति से माफी माँगी और कहा कि उनके सुझाव सचमुच गलत थे। यदि माली पूर्ववत् कुएँ से ही बाल्टी-बाल्टी पानी निकालकर

सींचे, तभी वह तन्दुरुस्त हो सकता है।

(३) मातु-पिता सेवा भली

सन्त पुण्डलीक माता-पिता के परम भक्त थे। भीमा नदी के किनारे रहते और माता-पिता की सेवा में सदा लगे रहते। माता-पिता ही उनके देवता, निधि और सुख के साधन थे। उनकी एकनिष्ठ मातृ-पितृभक्ति, अविचल श्रद्धा और तन्मयतापूर्वक सेवा ने भगवान् कृष्ण को मुग्ध कर दिया और उन्होंने अपने इस परम भक्त को दर्शन देना चाहा।

एक दिन पुण्डलीक अपने माता-पिता के पैर दबा रहे थे कि कृष्णदेव रुक्मिणी के साथ वहाँ प्रकट हो गये, लेकिन पुण्डलीक पैर दबाने में इतने लीन थे कि उनका अपने इष्ट-देव की ओर ध्यान ही नहीं गया। तब प्रभु ने ही स्नेह से पुकारा, "पुण्डलीक, हम तुम्हारा आतिथ्य ग्रहण करने आये हैं।" पुण्डलीक ने जब उस तरफ दृष्टि फेरी, तो रुक्मिणी समेत सुदर्शन चक्रधारी को मुसकराता पाया। उन्होंने पास ही पड़ी ईंटें फेंककर कहा, "भगवन्! कृपा कर इन पर खड़े रहकर प्रतीक्षा कीजिए। पिताजी शयन कर रहे हैं, उनकी निद्रा में मैं व्यवधान नहीं लाना चाहता। बस कुछ ही देर में मैं आपके पास आ रहा हूँ।" और वे पुनः पैर दबाने में लीन हो गये। पुण्डलीक की सेवा और शुद्ध भाव देख भगवान् इतने प्रसन्न हो गये कि कमर पर दोनों हाथ धरे तथा पाँवों को जोड़कर वे ईंटों पर खड़े हो गये। किन्तु माता-पिता को निद्रा आ ही नहीं रही थी। उन्होंने तुरन्त आँखें खोल दीं। पुण्डलीक ने जब यह देखा तो भगवान् से कह दिया, "आप दोनों ऐसे ही खड़े रहें," और वे पुनः पैर दबाने में मग्न हो गये।

भगवान् ने सोचा कि जब पुण्डलीक ने बड़े प्रेम से उनकी इस प्रकार व्यवस्था की है, तो इस स्थान को क्यों त्यागा जाए? और उन्होंने वहाँ से न हटने का निश्चय किया। पुण्डलीक माता-पिता के साथ उसी दिन भगवद्धाम चले गये, किन्तु श्रीविग्रह के रूप में ईंट (मराठी पर्याय 'वीट') पर खड़े होने के कारण भगवान् 'विट्ठल' कहलाए और जिस स्थान पर उन्होंने अपने प्रिय भक्त को दर्शन दिये थे, वह 'पुण्डलीकपुर' कहलाया। इसी का अपभ्रंश वर्तमान में प्रचलित 'पंढरपुर' है। यही वारकरी पन्थ का पवित्रतम तीर्थ बना।

(४) निज कृत कर्म भोग सब भ्राता

सन्त हबीब आज़मी पहले अमीर थे। वे रुपया सूद पर उठाते और उसी से गुजारा करते थे। वे जब सूद-वसूली के लिए निकलते, तो कर्जदार के घर में ही ठहरते और वहीं खाना खाते थे। तिजोरी भरने की चिन्ता उन्हें सदैव लगी रहती।

एक दिन वे एक कर्जदार के घर गये। वह तो नहीं मिला, लेकिन उसकी घरवाली थी। उसने बताया कि उसका शौहर कहीं बाहर गया है। सन्त द्वारा पैसे माँगने पर उसने कहा, "घर में तो फूटी कौड़ी तक नहीं है, तब पैसे कैसे चुकते किये जा सकते हैं?" हबीब ने कहा, "ठीक है, हम बाद में वसूल करने आएँगे, मगर हमारे लिए खाना बनाओ, क्योंकि हमारा उसूल है कि हम बिना कुछ लिये कर्जदार के दरवाजे से वापस नहीं लौटते।" औरत ने अपनी गरीबी का रोना रोया और मजबूरी प्रकट की कि घर में चूल्हा जलाने तक के लिए सामान नहीं है। हबीब ने कहा, "उधार लाओ, मगर खाना खिलाओ।"

स्त्री पड़ोसी के घर गयी और वहाँ से लकड़ियाँ, दाल, चावल आदि उधार ले आयी और उसने खाना तैयार किया। इतने में एक फकीर आया और उसने कहा, "बड़ी जोर से भूख लगी है, खाना खिलाओ।" स्त्री ने जवाब दिया, "घर में एक ही व्यक्ति का खाना बना है और एक मेहमान पहले ही मौजूद है, इसलिए तुम्हें खाना देने में मैं मजबूर हूं।" फकीर ने जवाब दिया, "कोई बात नहीं, मगर तुम अमीर तो नहीं लेकिन मुफलिस जरूर हो जाओगी।" और वह चल दिया।

खाना परोसने के लिए स्त्री ने जब हाँड़ी में चम्मच डाला, तो वह चीख उठी, क्योंकि सब्जी की जगह उसे खून ही खून दिखाई दिया। हबीब पर वह बरस पड़ी और बोली, "यह सब तुम्हारी बदबख्ती का नतीजा है। पकायी तो मैंने सब्जी थी, लेकिन तुम्हारे कारण सारी की सारी लहू हो गयी!"

हबीब ने सुना, तो उन्हें दुःख हुआ कि सचमुच यह उनकी बदबख्ती का ही नतीजा है, क्योंकि उनके पास रहम नाम की कोई चीज ही नहीं है। वे तुरन्त बोल उठे, "हे अल्लाह! तुम गवाह हो कि आज से मैं अपनी जिन्दगी में तबदीली करूंगा।" वे वहाँ से बिना कुछ कहे लौट गये और सन्त हसन बसरी के पास नसीहत लेने पहुंच गये। वहां से वापस आकर उन्होंने ऐलान किया कि जिस किसी पर भी उनका कर्ज है, वे अपने-अपने दस्तावेज ले आएं। वे उन्हें नष्ट कर देंगे। उन्होंने अपना सारा माल खुदा के जिम्मे कर दिया है और अब उनका किसी की तरफ कोई रुपया बाकी नहीं है। अब वे एक फकीर के समान बसर करना चाहते हैं।

(५) गुन अवगुन अन्तर बसहिं

एक बार सन्त पोयेमन के पास एक व्यक्ति आया और उसने कहा, "महाशय, मेरा भाई दुष्ट प्रकृति का है। वह मुझसे हमेशा जला-भुना करता है। मैं उसे माफ करता हूँ, मगर इसका उस पर कुछ असर नहीं होता, उल्टा मुझ पर वह और नाराज होता है, ऐसा क्यों?"

पोयेमन ने उत्तर दिया, "सच-सच बताओ, जब तुम उसे माफ करते हो, तब क्या तुम्हारे मन में ये विचार नहीं आते कि तुमने कोई गुनाह नहीं किया है और यह तुम्हें नाहक ही भला-बुरा कोस रहा है? मज़हब कहता है कि नासमझों को माफ करो, क्या इसी कारण तुम उसे माफ करते हो?" उस व्यक्ति ने हामी भरी, तो सन्त ने कहा, "देखो, तुम जब उसे माफ करते हो, तो सच्चे दिल से नहीं करते, बल्कि तुम्हारे दिल में यही खयालात उठते हैं कि गुनाह मैंने नहीं, भाई ने किये हैं और इस कारण तुम उसे माफ कर देते हो। बस, इसी कारण खुदा तुम्हारे भाई को तुम पर खुश होने की इज़ाजत नहीं देता।"

○

श्री चैतन्य महाप्रभु (१)

स्वामी सारदेशानन्द

(लेखक माता सारदा देवी के शिष्य एवं सेवक रहे हैं। माँ के सम्बन्ध में उनके संस्मरण धारावाहिक रूप से 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। बहुतों के साग्रह अनुरोध पर लेखक की कृपापूर्ण अनुमति से हम हिन्दी पाठकों के लाभार्थ इसे धारावाहिक रूप से प्रकाशित करने जा रहे हैं। अनुवादक हैं स्वामी विदेहात्मानन्द, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, नागपुर में कार्यरत हैं। ——स०)

प्रस्तावना

श्री चैतन्यदेव की अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन जीवनियाँ उपलब्ध होने के बावजूद हमारे-जैसे अक्षम व्यक्ति ने उनकी और भी एक जीवनी लिखने के महान् कार्य को हाथ में क्योंकर लिया, इस विषय में पाठकों के समक्ष दो-चार बातें रखना आवश्यक प्रतीत होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चैतन्य महाप्रभु के जीवन पर चर्चा करते समय हमें मुख्यतः प्राचीन ग्रन्थों का ही अवलम्बन करना पड़ता है, परन्तु वे सारे ग्रन्थ प्राचीन बँगला भाषा तथा प्राचीन पद्धति में लिखित होने के कारण सामान्य पाठक के लिए दुर्लभ तथा दुरूह हैं। यदि कोई पाठक इस पुस्तक को पढ़ने के पश्चात् प्राचीन ग्रन्थों की ओर आकृष्ट हों, तो हम अपना श्रम सार्थक समझेंगे।

परन्तु परवर्ती एवं वर्तमान काल की अनेक पुस्तकों के बारे में हमारा मत है कि इनमें अनेक स्थानों पर चैतन्य-देव का जैसा चरित्र अंकित हुआ है, उससे बंगाल के समाज

एवं साहित्य में महाप्रभु के जीवन तथा धर्ममत के बारे में विविध प्रकार की अद्भुत तथा विपरीत धारणाओं की सृष्टि हुई है। इस विषय में हम स्वयं भी भुक्तभोगी हैं। यही कारण है कि अपनी अयोग्यता समझते हुए भी इस दुरूह कार्य में अग्रसर हो रहे हैं तथा प्राचीन आचार्यों का पदानुसरण कर उनके वास्तविक चरित्र का यत्किंचित् परिचय देने का प्रयास कर रहे हैं।

बंगाल में उनके सम्बन्ध में जो भ्रामक धारणाएँ दीख पड़ती हैं, पहले उन्हीं पर थोड़ी चर्चा कर फिर उक्त प्रसंगों में पाठकों के समक्ष हम अपना मत प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे—

(क) *भावुकता*—इस विषय में आम धारणा यह है कि महाप्रभु अत्यन्त भावुक थे और उन्होंने अपना सारा जीवन ही भाव के आवेग में रोते-गाते बिताया है। उनके जीवन में महापुरुषों के समान कोई असामान्य व्यक्तित्व, महानता एवं उच्चभाव देखने को नहीं मिलता। वे बचपन में चंचल थे, किशोरावस्था में चपल थे और यौवनकाल में अपनी विद्या के मद में चूर थे। उसके बाद ही अचानक उनमें प्रेतावेश के समान एक अद्भुत धर्मोन्माद एवं रुदन का आविर्भाव हुआ। फिर उनकी जो रुलाई शुरू हुई, तो उनका सारा जीवन ही रोते-रोते बीता। वे स्वयं तो रो ही रहे हैं, स्नेहमयी माँ एवं पतिव्रता पत्नी को भी रुला रहे हैं और उनके अनुगामी भक्तों के भी रोते हुए ही दिन बीतते हैं। रोते-रोते ही उन्होंने अपनी लीला संवरण की, और आज भी वह रुदन थमा नहीं है। जो भी उनका स्मरण करेगा, उसे रोना पड़ेगा। उन्होंने रोदन-धर्म का ही प्रचार किया है। इसीलिए आधुनिक शिक्षाप्राप्त बहुत से लोगों का

कहना है कि चैतन्यदेव का जीवन एवं धर्म राष्ट्रीय प्रगति में बाधक है। उन पर चर्चा करने से नवयुवकों का मन विषादयुक्त हो जाता है, उनमें अकर्मण्यता आती है, सबल युवक भी आत्मरक्षा में असमर्थ हो दुर्बल और कायर हो जाते हैं, आदि आदि।

परन्तु हमें तो प्राचीन पुस्तकों का अवलोकन करने पर कुछ दूसरी ही बात दीख पड़ी है। उनके बाल्य-जीवन में ही विकसित उनकी अद्‌भुत प्रतिभा पर हम विस्मित रह जाते हैं। बड़े भाई के सन्यासी हो जाने पर माता-पिता को अत्यन्त दुःखी देखकर विचारशील बालक द्वारा उन्हें सान्त्वना प्रदान करना; अल्प आयु में ही पिता का स्वर्गवास हो जाने पर घर-गृहस्थी का गुरुभार अपने कन्धों पर लेकर उसका भलीभाँति निर्वाह करना; विद्यार्थी जीवन में अलौकिक मेधाशक्ति की अभिव्यक्ति एवं सहपाठी के दुःख में सहानुभूति प्रकट करना; युवावस्था के प्रारम्भ में ही चतुष्पाठी* की स्थापना कर एक सफल आचार्य के रूप में अध्यापन करना——ये सब उनकी उत्तरदायित्वपूर्ण कर्मठता के ही प्रमाण हैं। फिर शास्त्र-चर्चा, प्रतिद्वन्द्वी-पराजय, देश-भ्रमण, धर्मप्रचार आदि सभी कार्यों में उनकी असामान्य प्रतिभा, असीम बुद्धि, अपूर्व चरित्र, अतुल कर्मदक्षता, महान् हृदय एवं अलौकिक अध्यात्म-सम्पदा का ही परिचय मिलता है।

'चैतन्यचरितामृत'कार ने लिखा है——"चैतन्य सिंह का नवद्वीप में अवतार हुआ।" वस्तुतः वे पुरुषसिंह ही थे। सिंह राशि में उनका जन्म हुआ था और उनकी आकृति-

* ऐसा विद्यालय जिसमें चारों वेदों की शिक्षा दी जाती हो। (अनु०)

प्रकृति भी वीरेन्द्र केसरी के ही समान थी। उनकी गरदन, वक्षःस्थल तथा कमर के लिए एकमात्र उपमान सिंह ही हो सकता था। वे जब जयध्वनि करते, तो उनके सिंहनाद से गगन विदीर्ण हो जाता और जब वे कीर्तन के समय सिंह-विक्रम के साथ नृत्य करते, तो धरती मानो टलमल करने लगती। उनकी गर्जना से पाखण्डियों के हृदय में भय का संचार होता, और उनकी अभयवाणी सुनकर पतितों के प्राण आशा से परिपूर्ण हो जाते। जिस प्रकार पशुराज निःशंक भाव से वन में विचरण किया करते हैं, वैसे ही विस्तृत भारतभूमि के तीन-चौथाई अंश का निर्भयतापूर्वक पैदल भ्रमण करते हुए उन्होंने नास्तिकता एवं अधर्म का दमन कर वैदिक धर्म एवं भगवद्भक्ति का प्रचार किया था। उनका जीवन बल-वीर्य का स्रोत है, मृतसंजीवनीसुधा है। हम लोग आज निर्वीर्य हो जाने के कारण ही उन्हें नहीं समझ पा रहे हैं।

(ख) *गृहत्याग तथा सन्यास की अनुचितता*—उनके गृहत्याग एवं संन्यास के बारे में भी लोगों के मन में विविध प्रकार की अनुचित धारणाएँ दृढ़मूल हो गयी हैं। कइयों का मत है कि उनका गृहत्याग बेहद निर्ममता का द्योतक है। उन्होंने अत्यन्त निर्दयतापूर्वक अपनी माता एवं पत्नी का परित्याग कर अवैध संन्यास लिया था। इस विषय में हमारा मत यह है कि संन्यास ही उनकी दया एवं महिमा की पराकाष्ठा है। उनकी जीवनी का अध्ययन करने पर यह बात विशेष रूप से परिलक्षित होती है। जीवों का दुःख देखकर उनका हृदय द्रवित हो उठा था। इसीलिए दूसरा कोई उपाय न देख उन्होंने अपने तथा अपने सगे-सम्बन्धियों के सुख-भोग की आशा को चिरकाल के लिए

तिलांजलि दे जीवों का दु:खमोचन करने के निमित्त संन्यास ग्रहण किया था। स्नेहमयी माँ तथा पतिव्रता पत्नी की अनुमति लेकर ही उन्होंने गृहत्याग किया। जीवन के अन्तिम क्षण तक उन्होंने अपनी जननी के प्रति अद्भुत श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित की थी। पत्नी के प्रति भी उनका बड़ा स्नेह था और यत्नपूर्वक शिक्षा-दीक्षा प्रदान कर उन्होंने उसे एक सुयोग्य सहधर्मिणी के रूप में गढ़ दिया था।

(ग) *संन्यास-आश्रम के प्रति निष्ठाहीनता*—बहुतों के मुख से सुनने में आता है कि वे वस्तुत: संन्यासी नहीं थे। बाह्य दृष्टि से संन्यास ग्रहण कर लेने पर भी उक्त आश्रम के प्रति उनके विश्वास एवं निष्ठा का कोई आभास नहीं मिलता। शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित दशनामी सम्प्रदाय से संन्यास-दीक्षा लेने के बावजूद वे उक्त सम्प्रदाय के संन्यासियों के साथ कोई सम्पर्क नहीं रखते थे, उन लोगों के समान वेदान्त-वाक्यों पर विचार नहीं करते थे, जीव-जगत् के मूल कारण को एक अखण्ड अद्वय निर्विशेष पर-ब्रह्म के रूप में नहीं मानते थे और न उक्त सम्प्रदाय के परमहंस परिव्राजकाचार्य संन्यासियों के समान जीवन-यापन ही करते थे। यहाँ तक कि परवर्तीकाल के उनके किसी किसी चित्र अथवा मूर्ति में वे कण्ठ में तुलसी की माला, ललाट पर हरिनाम की छाप और तिलक, मुण्डित मस्तक पर लम्बी चोटी और कन्धे पर यज्ञोपवीत से शोभित वैरागी के वेश में भी दीख पड़ते हैं। उनके अनुगामी के के रूप में सुपरिचित गौड़ीय वैष्णवगण उन्हें मध्वाचार्य के वैष्णव सम्प्रदाय का मानते हैं। फिर आजकल कोई कोई उन्हें निम्बार्क सम्प्रदाय के केशव नामक एक वैष्णव का

शिष्य कहकर भी प्रचार कर रहे हैं। किन्तु प्राचीन ग्रन्थों की सहायता से उनका वास्तविक और निस्सन्दिग्ध परिचय जाना जा सकता है। यह जाना जा सकता है कि उन्होंने आचार्य शंकर द्वारा प्रवर्तित दशनामी संन्यासी सम्प्रदाय के श्रीमत् केशव भारती से विधिवत् संन्यास-दीक्षा ली थी तथा इसके पूर्व दशनामी सम्प्रदाय के ही संन्यासी श्रीमत् ईश्वर पुरी से मन्त्र-दीक्षा प्राप्त की थी। पुरी में वासुदेव सार्वभौम के साथ तथा काशी में स्वामी प्रकाशानन्द के साथ उनके वार्तालाप पर विचार करने से ही उनके वेदान्त-ज्ञान का आभास मिल जाता है। इसके अतिरिक्त वे सर्वदा ही अपना परिचय एक 'मायावादी संन्यासी' के रूप में दिया करते थे। उन्होंने यथाविधि आत्म-श्राद्ध, शिखा-सूत्र-त्याग आदि अनुष्ठानों के साथ संन्यास लेकर भिक्षा द्वारा जीवन धारण करते हुए संन्यासी-संघ में चिरकाल तक एक आदर्श संन्यासी का जीवन बिताया था। इसीलिए भक्तगण उन्हें न्यासी-चूड़ामणि के नाम से अभिहित किया करते थे। (१) नित्यानित्य-वस्तु-विवेक (२) इहामुत्र-फलभोग-विराग (३) शमदमादि-षट्सम्पत्ति तथा (४) मुमुक्षुत्व—इस साधन-चतुष्टय से सम्पन्न उत्तम अधिकारी का ही वेदान्तोक्त ज्ञानयोग की साधना में अधिकार है तथा जनसाधारण के लिए भगवद्-उपासना ही मुक्ति का उत्कृष्ट पथ है—ऐसा मत था वेदान्तप्रचारक आचार्य शंकर का, और चैतन्यदेव का भी ऐसा ही विचार था। इसीलिए वे स्वयं संन्यासी होकर भी सामान्य लोगों के लिए उपयोगी उपासनामार्ग एवं नाम-माहात्म्य का प्रचार करते थे। आचार्य सनातन गोस्वामी को शिक्षादान के प्रसंग में विशेष रूप से पता चलता है कि महाप्रभु ने

जगत्कारण को श्री शंकराचार्य के समान ही 'अद्वय-ज्ञान-तत्त्ववस्तु' बताया था। श्रीमद्वल्लभाचार्य के प्रसंग में हम देखते हैं कि उन्होंने शंकर-मतावलम्बी अद्वैतवादी आचार्य श्रीधर स्वामी द्वारा लिखित श्रीमद्भागवत-टीका को ही प्रमाणयोग्य माना है। अद्वैतवाद में उनकी निष्ठा का यह एक अकाट्य प्रमाण है। उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषणा की है—"मन-वाणी से अगोचर जिस वस्तु का उपनिषद् में 'अद्वैतब्रह्म' कहकर आभास मात्र दिया गया है, संयतमना योगियों ने जिसका 'परमात्मा' के रूप में निर्देश किया है, भक्तगण जिसकी अचिन्तनीय शक्ति द्वारा मोहित हो 'भगवान्' के रूप में भजन करते हैं, वही सभी कारणों के कारणरूप गोविन्द श्रीकृष्ण एक, अद्वय, ज्ञान-तत्त्ववस्तु हैं। विचार के द्वारा ज्ञानीगण जिसे निर्गुण कहा करते हैं, उपासक-भक्तगण उसी की सगुण रूप में उपासना किया करते हैं।" संन्यासी-सम्प्रदाय के साथ उनके सम्बन्ध का वर्णन करते हुए 'चैतन्यचरितामृत'कार ने एक अतीव मनोहारी चित्र अंकित किया है। पाठकों की जानकारी हेतु हम उसे प्रस्तुत कर रहे हैं। 'चरितामृत'कार ने चैतन्यदेव द्वारा प्रचारित धर्म का भक्तिकल्पतरु के रूप में वर्णन किया है। उस वृक्ष के मूल स्कन्ध स्वयं चैतन्य महाप्रभु हैं। ऊपर जाकर वह अद्वैत और नित्यानन्द रूपी दो तनों में विभक्त हो गया है और बाद में इनमें से असंख्य शाखा-प्रशाखाओं ने निकलकर जगत् को आच्छादित कर लिया है। इस वृक्ष के फल का रसास्वादन कर विश्ववासी प्रेम से उन्मत्त हुए हैं। चैतन्यदेवरूपी इस मूल तने के आधार का परिचय देते हुए ग्रन्थकार ने नौ दशनामी संन्यासियों का उल्लेख किया है। इसी से स्पष्ट हो जाता है कि

संन्यासी-सम्प्रदाय के साथ उनका क्या सम्बन्ध था। "परमानन्दपुरी, केशवभारती, ब्रह्मानन्दपुरी, ब्रह्मानन्द-भारती, विष्णुपुरी, केशवपुरी, कृष्णानन्दपुरी, नृसिंहानन्द-तीर्थ और सुखानन्दपुरी—वृक्ष के मूल से ये नौ जड़ें निकली हैं, जिनमें मध्यमूल हैं महाधीर परमानन्द। इन नौ जड़ों ने वृक्ष को निश्चल एवं सुस्थिर कर रखा है।*"

संन्यास आश्रम में यदि उनकी श्रद्धा न होती, तो वे निश्चय ही इसे त्यागकर मध्व अथवा किसी अन्य वैष्णव सम्प्रदाय में सम्मिलित हो जाते।

(घ) *कट्टरता*—बहुत से लोगों की धारणा है कि वे एक अत्यन्त कट्टर एवं संकीर्ण प्रकृति के वैष्णव थे। उनके मतानुसार चैतन्यदेव शिव-शक्ति-उपासना के विद्वेषी तो थे ही, साथ ही राधाकृष्ण युगलरूप एवं नाम के अतिरिक्त उनकी भगवान् के किसी अन्य रूप या नाम में श्रद्धा-भक्ति न थी; वे सर्वदा 'राधे-राधे' की पुकार लगाते और श्रीमती राधिका की सेविका के भाव में आविष्ट रहकर दिन-रात 'हँसने रोने नाचने गाने एवं प्रेमानन्द में झूमनेवाले' भावुकों के साथ कालयापन करते थे। परन्तु प्राचीन प्रामाणिक जीवनियों का अध्ययन करके हमारी तो इसके बिल्कुल विपरीत ही धारणा बनी है। वे अत्यन्त उदार भावापन्न थे। वे अपने अनुगामियों को सबके प्रति श्रद्धापरायण एवं सहानुभूतिसम्पन्न होने का उपदेश दिया करते थे। उनका जन्म मिश्र वंश में हुआ था, जो शक्ति का उपासक था। उनके तीर्थभ्रमण के प्रसंग में पाठकगण शिव-शक्ति तथा अन्य देवी-देवताओं के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा-भक्ति

* 'श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत', आदिलीला, ९ वाँ परिच्छेद।

देखकर विस्मित एवं पुलकित होंगे । संन्यासियों द्वारा चिर-आकांक्षित विश्वनाथ के आनन्दकानन—काशी—में उन्होंने दीर्घकाल तक निवास किया था और उस अवधि में वे प्रतिदिन मणिकर्णिका में स्नान तथा विश्वेश्वर के दर्शन को जाया करते थे । भगवान् के सभी नामों में उनका विश्वास था, यह बात उनके शिक्षाष्टक में 'नाममाहात्म्य' को पढ़ने से ही स्पष्ट हो जाएगी ।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।।

—जनसाधारण के बीच वे सर्वदा इस 'सोलह नाम बत्तीस अक्षर' मन्त्र का कीर्तन एवं प्रचार करते थे । प्राचीनकाल से ही सनातन धर्म के साथ-साथ सारे भारतवर्ष में 'राम' एवं 'कृष्ण' नाम भी प्रचलित हैं । भगवान् की सशक्ति उपासना भी सम्पूर्ण देश में प्रचलित है । उमा-महेश्वर, लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि नाम एवं रूपों की उपासना न जाने कितने काल से चली आ रही है । इसमें सन्देह नहीं कि चैतन्यदेव ने उपासनामार्ग का प्रचार एवं प्रसार किया था, परन्तु भारत के जिन अंचलों में उनका प्रभाव नहीं फैला—यहाँ तक कि लोग उनका नाम भी नहीं जानते—उन स्थानों में भी राधा-कृष्ण के नाम एवं उपासना का प्रचलन है । अतः यह कहा जा सकता है कि इसका काफी पहले से ही सनातन धर्म के अंग के रूप में प्रचार हो चुका था । तथापि उक्त उपासना के उच्च आध्यात्मिक तत्त्वों का अनुभव अपने जीवन में अभिव्यक्त करने के कारण श्री चैतन्य की ओर लोगों की दृष्टि विशेष रूप से आकृष्ट हुई । उन्होंने प्रचार किया, "पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्म-परमात्मा सत्-चित्-आनन्द हैं । उन्हीं

आनन्दमय की आनन्ददायिनी ह्लादिनी शक्ति श्रीमती राधा हैं। भक्तगण उन्हीं की कृपा से परमानन्द के अधिकारी होते हैं।" वे सदा-सर्वदा भगवद्भाव से परिपूर्ण रहते थे, तथापि यह धारणा कि वे सर्वक्षण एक तरह से बाह्यज्ञानरहित भावविह्वल अवस्था में रहा करते थे, पूर्णतया भ्रामक है। 'चैतन्यचरितामृत' में स्पष्ट लिखा हुआ है, "बाह्य अवस्था देखकर प्रभु भाव का संवरण कर लेते थे।" अत्यन्त अन्तरंगगण के अतिरिक्त अन्य कोई भी उनके अन्तर में निहित भाव को न जान पाता था। लोगों के समक्ष वे अत्यन्त शान्त, संयतमना, धीर-स्थिर, व्यवहार-निपुण आचार्य के रूप में आचरण करते थे और पास आनेवालों के चित्त का सारा संशयजाल दूर कर उनके प्राणों में शान्तिप्रदायिनी अमृतमयी वाणी का वर्षण करते थे। उनके जीवन के अन्तिम पर्व में उच्चांग भक्ति के विकास के फलस्वरूप जिस राधा-प्रेम की अत्यद्भुत महिमा सुनने में आती है, वह अत्यन्त गोपनीयतापूर्वक अभिव्यक्त हुई थी। केवल उनके दो अत्यन्त अन्तरंग एवं ज्ञानी महानुभाव-रामानन्द राय तथा स्वरूप दामोदर—ही उस अपूर्व भाव को जान पाते थे। यहाँ तक कि रथयात्रा के अवसर पर अपने अतिप्रिय गौड़ीय भक्तों के आने पर वे अत्यन्त सावधानी पूर्वक अपने अन्तर का भाव छिपाये रखते थे। यह बात 'चैतन्यचरितामृत' ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से लिपिबद्ध है।

(ङ) *श्रुति-स्मृति में अनास्था*—बहुत से लोगों का कहना है कि चैतन्यदेव सनातन वैदिक धर्म के विरोधी थे। श्रुति-स्मृति के प्रति उनकी श्रद्धा न थी तथा वे वर्णाश्रम धर्म नहीं मानते थे। वर्तमान काल में ऐसे अनेक लोग देखने में आते हैं, जो उनके नाम की दुहाई देते हुए शास्त्राचार

का उल्लंघन किया करते हैं। इतना ही क्यों, इसी के फल-स्वरूप बंगाल में एक कहावत ही चल पड़ी है, 'जात गयी तो वैष्णव बने'।

परन्तु पाठकगण उनकी जीवनी का अध्ययन करने पर बिल्कुल विपरीत निष्कर्ष पर पहुँचेंगे। आप देखेंगे कि उन्होंने जीवन भर शास्त्रों का आदेश शत-प्रतिशत पालने का प्रयास किया है। चाहे गृहस्थाश्रम हो अथवा संन्यासाश्रम, उनके जीवन में शास्त्राचार का उल्लघन कर यथेच्छाचार बरतने का कणमात्र भी आभास नहीं मिलता। उन्होंने आजीवन श्रुति-स्मृतिविहित सनातन वैदिक धर्म का ही अनुष्ठान एवं प्रचार किया था। सनातन धर्म की विजय-पताका को फहरा रखने के लिए, अधर्म-अनाचार तथा अत्याचार के प्रबल उत्पीड़न से समाज की रक्षा के लिए उन्होंने प्राणपण से प्रयास किया। उन्हीं के आदेश पर भक्ति-मार्ग की पुष्टि एवं भक्तगण के अनुशासन के उद्देश्य से, श्रीमत् सनातन गोस्वामी ने आचार्य गोपाल भट्ट की सहायता से श्रुति-स्मृति-पुराण-तंत्र आदि के आधार पर कालोपयोगी एक अपूर्व ग्रन्थ की रचना की थी। 'हरिभक्ति-विलास' नामक यह ग्रन्थ गौड़ीय वैष्णव समाज का प्रामाणिक स्मृतिशास्त्र है। उनके प्रभाव से देश में वेद-उपनिषद्-दर्शन-पुराण आदि शास्त्रों की लोकप्रियता में वृद्धि हुई, इसका प्रमाण संस्कृत साहित्य में आज भी जाज्वल्यमान है।

(च) अधर्म का प्रचार तथा समाज का सर्वनाश— अनेक लोग ऐसा सोचते हैं कि चैतन्यदेव ने राधाकृष्ण-लीला के नाम पर नर-नारियों का अवैध मिलन प्रोत्साहित किया, 'वैष्णव' नाम से प्रचलित अनेक उप-सम्प्रदायों की स्थापना

की और उन लोगों में प्रचलित साधनाप्रणाली का अनु-मोदन करके समाज एवं राष्ट्र के अधःपतन का पथ प्रशस्त किया। इस विषय में हमने विशेष रूप से शोध करके देखा है कि इन समस्त उप-सम्प्रदायों एवं उनकी साधनाप्रणाली के साथ श्री चैतन्यदेव का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। उनका नाम लेकर भले ही ये लोग अपना परिचय दें, पर उनकी जीवनी से सम्बन्धित प्राचीन प्रामाणिक साहित्य में इसका जरा सा भी समर्थन नहीं मिलता। चिरकाल से ही बहुत से लोग अपने स्वार्थसाधन के निमित्त अनेक महापुरुषों के नाम एवं गौरव का सहारा लेते आये हैं। इसी प्रकार चैतन्य महाप्रभु का नाम भी इन समस्त आचार-व्यवहारों के साथ जुड़ गया है। सच कहा जाय तो उनके पुनीत प्रभाव से तत्कालीन समाज से ये सब बीमारियाँ काफी परिमाण में दूर हुईं और इसके फलस्वरूप समाज का प्रभूत कल्याण हुआ।

चैतन्यदेव कठोर त्यागी थे। स्वयं तो वे काम-कांचन से कोई सम्बन्ध रखते ही न थे, उनके भक्तगण भी इस विषय में सावधान रहें इसके लिए वे उन पर कैसी तीक्ष्ण दृष्टि रखते थे, यह देख पाठकगण अवाक् रह जाएंगे। चैतन्यदेव के आविर्भाव के बहुत पूर्व से ही, और उनके काल में भी, देश में अधःपतित बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ तान्त्रिक वामाचार के नाम पर अनाचार में लिप्त थे। महाप्रभु के पूत प्रभाव से उनमें से अनेक सम्प्रदायों ने अपना पूर्व आचार-अनुष्ठान त्यागकर सनातन धर्म अप-नाया। जो लोग अपनी पुरानी आदत पूर्णरूपेण न त्याग सके थे, वे ही गोपनीयतापूर्वक कुक्रिया का अनुष्ठान करते रहे। इस प्रकार अनेक उपधर्म एवं उपसम्प्रदायों की सृष्टि

हुई । राधाकृष्ण-लीला के बारेमें चैतन्यदेव के मत पर चर्चा करने पर पाठकगण समझ जाएँगे कि वह सामान्य विषयासक्त लोगों के समान नर-नारी का आपसी आकर्षण अथवा कामान्ध व्यक्ति के इन्द्रियसुख-भोग जैसा कुछ भी नहीं है । वेदों में जिसका 'रसो वै स:' कहकर निर्देश किया गया है, यह उसी आनन्द-चिन्मय का रसास्वादन है, जो भक्ति-मार्ग की चरम उपलब्धि है । इसी को चैतन्यदेव ने श्री राधाकृष्ण-लीला-स्फुरण कहकर प्रचारित किया है । रामानन्द राय के साथ उनकी चर्चा तथा रूप-सनातन को शिक्षादान के प्रसंग में पाठक को इस विषय में विशेष जानकारी मिलेगी ।

(छ) राष्ट्रीय अवनति——चैतन्य महाप्रभु ने विषयों के प्रति वितृष्णा, संसार से वैराग्य, अहंकारशून्यता, दीन-हीन भाव से जीवनयापन तथा एकान्तवास करते हुए भगवद्भजन का उपदेश दिया है, इस कारण अनेक लोग उन्हें राष्ट्रीय अवनति का कारण ठहराते हैं । उन लोगों का कहना है कि श्रीचैतन्य द्वारा प्रचारित धर्म अभ्युदय में बाधक है । इस विषय में सत्य का पता लगाने के लिए पाठक को उनके जीवन एवं कार्य का गहराई से अध्ययन करना होगा तथा उनके आविर्भाव के पूर्व एवं बाद की सामाजिक अवस्था के बारे में जानकारी जुटानी होगी । चरित्रवान्, नि:स्वार्थ, परोपकारी, सात्त्विक स्वभाव तथा आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न लोग ही मानव-समाज का संगठन एव संरक्षण किया करते हैं । स्वार्थोन्मत्त,शिश्नोदर-परायण, चंचलचित्त तथा पाशविक बल से सम्पन्न लोगों द्वारा समाज की अधोगति ही होती है । चैतन्यदेव की जीवनी का पारायण करने पर पाठकगण स्पष्ट रूप से देख सकेंगे

कि किस प्रकार उन्होंने तथा उनके पार्षदों ने विदेशी एवं विधर्मी शासन के प्रबल प्रताप तथा समाज-नेताओं के कठोर सामाजिक नियन्त्रण की उपेक्षा करते हुए आपामर जनसाधारण के बीच अपने भाव का प्रचार करके समाज का असीम कल्याण किया है।

आधुनिक बंगाल के धर्म, संस्कृति, भाषा, साहित्य, संगीत, कला आदि सभी क्षेत्रों में जो कुछ भी गौरवमय दीख पड़ता है, वह सब चैतन्यदेव की भावराशि से परिपुष्ट हुआ है। उनके प्रभाव से समाज के बहुत से महानुभाव अपनी जन्मगत सीमाओं का अतिक्रमण कर, अपने गुणकर्म की सहायता से 'गोस्वामी' की उपाधि धारण करके समाज के शीर्षस्थान में ब्राह्मण के आसन पर आसीन हुए हैं तथा समाज को सत्पथ पर ले जाते रहे हैं। उनके कीर्ति-कलापों से सारा देश व्याप्त हुआ है। यद्यपि चैतन्यदेव के अनुयायी विदेशी शासन को जड़मूल से उखाड़ नहीं सके थे, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने सनातन धर्म को विधर्म के राहु से मुक्त करके पुनःप्रतिष्ठित किया था। इतना ही नहीं, वे समाज में धर्मभाव को जाग्रत्, एकताबद्ध एवं संगठित करके विदेशी शासक के प्रभुत्व को घटाने तथा देशवासियों की शक्ति-सामर्थ्य को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुए थे। इस प्रकार उनके भाव से पुष्ट परवर्तीकाल के हिन्दू समाज में जिस क्षत्रिय-शक्ति का उदय हुआ, उसका परिचय पाठकों को बगाल के पश्चिमी अंचल में स्थित मल्लभूमि में जंगल के भीतर प्रतिष्ठित बंगाली शिल्प-सगीत-चित्र-मूर्ति-स्थापत्य कलाओं तथा सौन्दर्य की केन्द्र-भूमि विष्णुपुर के इतिहास का अध्ययन करने से प्राप्त होगा। फिर दूसरी ओर पूर्वांचल की असमिया पर्वतमाला

की क्रोड़ में स्थित असभ्य नागाजाति के सम्मिश्रण से प्रतिष्ठित मणिपुर राज्य तथा मणिपुरी लोगों की शिक्षा-सभ्यता के इतिहास पर चर्चा करने पर वहाँ भी चैतन्यमहाप्रभु तथा उनके धर्म का प्रभाव देखकर हम विस्मित रह जाते हैं। इसी प्रकार गारो, टिपारा, खासी आदि और भी कितनी ही पार्वत्य जनजातियों ने उनकी कृपा से उन्नति की है, इसकी खोज-खबर कौन लेगा ? आधुनिक बंगाल के दारिद्रय के इस संकट में भी जो लोग परदेसियों के साथ प्रवल प्रतियोगिता करके देश की समृद्धि को बढ़ाने का प्रयास कर रहे हैं, बंगदेश के वे सभी वैश्य भी श्रीचैतन्य के पदाश्रित हैं। असंख्य पतित, अनार्य, असभ्य, धर्महीन तथा विधर्मी लोग उनकी कृपा से ही आज विराट् हिन्दू समाज के अंगीभूत हुए हैं। फिर उनमें से कितने ही लोगों ने आगे बढ़कर समाज के शीर्षस्थान पर अधिकार किया है, इसकी गणना भला कौन करेगा ! खोजी मनोवृत्ति के पाठक यदि उनके जीवन तथा धर्मप्रचार की बात से अवगत होकर बंगाल के इतिहास का अध्ययन करें, तो वे समझ सकेंगे कि महाप्रभु ने किस प्रकार और कहाँ तक देश को उन्नति के पथ पर आगे बढ़ाया है।

देश में चैतन्यदेव के बारे में और भी भ्रान्त धारणाएँ फैली हैं, परन्तु हमारी प्रस्तावना काफी लम्बी हो जाने के कारण हम उन पर चर्चा से विरत होते हैं। हमें आशा है कि उनकी जीवनी पर चर्चा करने से पाठकों की वे सारी भ्रान्तियाँ अपने आप ही दूर हो जाएँगी।

चैतन्यदेव के जीवन तथा धर्म के सम्बन्ध में बंगला का 'श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत' ग्रन्थ ही सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है। यहाँ तक कि हमने गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय

में उस ग्रन्थ को उनके अभिन्न कलेवर श्रीविश्वम्भर के रूप में पूजित होते देखा है। काफी समय पहले आचार्य केशवचन्द्र की प्रेरणा से पण्डित ईश्वरचन्द्र गुप्त ने बड़ा परिश्रम करके 'चैतन्यचरितामृत' की अनेक प्राचीन हस्त-लिखित प्रतियों का अवलोकन करके एक भूलरहित संस्करण प्रकाशित किया था, जो बड़ा ही सम्मानित हुआ था। हमने प्रायः उसी ग्रन्थ का आधार लिया है। वक्तव्य विषय के प्रमाण के रूप में जो उद्धरण हमने दिये हैं, उनके आधारभूत पुस्तकों का नाम और स्थान हमने उन-उन स्थानों पर उद्धृत किया है। जहाँ पर ऐसा कोई उल्लेख नहीं है, वहाँ पर जानना होगा कि वह सब 'चैतन्यचरितामृत' ग्रन्थ से ही उद्धृत हुआ है। चैतन्य महाप्रभु के बाल्यजीवन का 'चरितामृत'कार ने विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया है। उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं को आधार बनाकर उसमें विशेषकर उनके द्वारा प्रचारित धर्ममत को ही समझाने का प्रयास हुआ है। यही उक्त ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है। महापुरुषों के जीवन की सारी घटनाएँ महत्त्वपूर्ण तथा भक्तों के लिए विशेष प्रीति-कर होने के बावजूद सामान्य जनों को उनसे कोई विशेष लाभ नहीं होता। मानव-समाज के कल्याणार्थ वे लोग जिन सत्यों का प्रचार करते हैं और उन तत्त्वों के मूर्त विग्रह के रूप में जो आदर्श जीवन यापन करते हैं, उन्हीं को जान लेने में पाठकों का परम लाभ है। महामनस्वी कविराज गोस्वामीजी ने इसी उद्देश्य को सामने रखकर अत्यन्त दक्षतापूर्वक 'श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत' ग्रन्थ लिखा है, और इसी कारण वह ग्रन्थ इतना सम्मानित हुआ है। *

* 'श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत' में निर्गुण अद्वैतवाद तथा ज्ञान-

श्रील हरिदास गोस्वामी प्रणीत 'श्रीश्रीविष्णुप्रिया-चरित' से परमाराध्या विष्णुप्रिया देवी की लीलाकथा का अधिकांश भाग संग्रहित हुआ है। इस कारण उक्त ग्रन्थकार भी हमारे कृतज्ञताभाजन हैं ।

इस ग्रन्थ के लेखन और प्रकाशन में परमपूज्य आचार्य स्वामी जगदानन्दजी महाराज ने विशेष सहायता एवं प्रेरणा प्रदान की थी । अधिकांश शास्त्र-सिद्धान्त उन्हीं से प्राप्त हुए हैं । लेखक उनका चिर ऋणी रहेगा ।

नवशिक्षित पाश्चात्य भावसम्पन्न नवयुवकों के मन को चैतन्यदेव के प्रति आकृष्ट करने के विशेष उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही हमने यह प्रयास किया है । प्राचीन सुरसिक भक्तगण लेखक के दोष-त्रुटियों को क्षमा करें—यही प्रार्थना है ।

○

मार्ग के प्रति जो बीच-बीच में दो-एक कटाक्षसूचक वाक्य दीख पड़ते हैं, उनके बारे में हमारा कहना है कि (१) सम्भव है कि वे मूल में न रहे हों और बाद में प्रक्षिप्त कर दिये गये हों; (२) यह भी विचारणीय है कि क्या वे चैतन्यदेव के मत के सूचक हैं अथवा ग्रन्थकार के; (३) जिस समय 'चरितामृत' का लेखन हुआ, तब तक चैतन्यदेव के सभी लीलासंगी दिवंगत हो चुके थे और परवर्ती अनुयायियों ने अपना 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' नामक पृथक् वैष्णव सम्प्रदाय बनाकर संन्यासी-सम्प्रदाय के प्रभाव को दूर करने का यथासाध्य प्रयास किया; (४) प्रेम और भक्तिमार्ग की पुष्टि तथा प्रचार ही उक्त ग्रन्थ का प्रतिपाद्य लक्ष्य है, अतः अन्य मतों पर कटाक्ष होना स्वाभाविक है ।

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :—नरेन्द्रनाथ

(पूर्वार्ध)

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेखमाला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ के एक न्यासी तथा प्रशासी-मण्डल के एक सदस्य होते हुए उसके सहायक सचिव हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जहाँ से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। अनुवादक स्वामी श्रीकरानन्द रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,रायपुर में कार्यरत हैं।——स०)

प्रत्येक महान् विश्वगुरु के साथ उनके सन्देशों के प्रचार हेतु आये उनके प्रमुख शिष्य में उनका ही एक दूसरा सक्रिय रूप दिखाई देता है। ईसा मसीह के साथ पीटर और बाद में पाल थे, श्रीकृष्ण के साथ अर्जुन थे, बुद्ध के साथ आनन्द, गौरांग के साथ नित्यानन्द; और अवतारी पुरुषों की परम्परा में सबसे बाद में अभी आये श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ को अपने प्रयोजन के लिए प्रमुख शिष्य के रूप में चुना था।

यदि नरेन्द्रनाथ आधुनिक भावधारा के प्रतीक थे, तो श्रीरामकृष्ण प्राचीन परम्परा में भारत का जो कुछ सर्वोत्कृष्ट था उसका प्रतिनिधित्व करते थे। वास्तव में, नरेन्द्र का स्वामी विवेकानन्द में परिवर्तित होने को श्रीरामकृष्ण और नरेन्द्रनाथ के व्यक्तित्वों के मिलन का फल समझा जा सकता है। इन दो महत् व्यक्तित्वों का सम्बन्ध मात्र गुरु और शिष्य का नहीं था। वह दो प्रचण्ड इच्छाशक्तियों का

भी मेल था, जिसके फलस्वरूप एक प्रचण्ड आध्यात्मिक शक्ति उदित हुई जिसने विश्व पर नवोदित सूर्य की भाँति सर्वत्र प्रकाश बिखेर दिया । वह संगम था प्राचीन और अर्वाचीन का, पूर्व और पश्चिम का, धर्म और विज्ञान का, प्रेम और ज्ञान का, भक्ति और सेवा का । इस प्रकार इन दोनों महान् व्यक्तित्वों का मिलन एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है ।

कलकत्ते के सिमुलिया मुहल्ले के एक अभिजात कायस्थ परिवार में १२ जनवरी, १८६३ को जन्मे नरेन्द्र एक सुन्दर युवक के रूप में विकसित होते हैं । उनमें प्रत्युत्पन्नमति, तीव्र मेधा और विलक्षण स्मरणशक्ति, सत्यानुराग तथा विचार एवं कार्य की पवित्रता के प्रति निष्ठा— इन सब गुणों का अद्भुत समन्वय था । उनके पिता विश्वनाथ दत्त कलकत्ता उच्च न्यायालय के एक प्रतिष्ठित अधिवक्ता थे । वे स्वतंत्र विचारवाले व्यक्ति थे, धर्म के सम्बन्ध में सन्देहवादी थे, यात्रा, साहित्य और संगीत से उनका विशेष लगाव था तथा रूढ़िवादी परम्पराओं के वे आलोचक थे । परन्तु पितामह दुर्गाचरण एक सम्पन्न और सुसंस्कृत व्यक्ति थे । उन्होंने चौबीस वर्ष की आयु में पत्नी और सन्तान का परित्याग कर संन्यास ग्रहण कर लिया था । बचपन से ही नरेन्द्र में चरम सत्य के अनुभव करने की अदम्य लालसा थी । उनकी माता भुवनेश्वरीदेवी भव्य व्यक्तित्ववाली धार्मिक स्वभाव की महिला थीं । वे गहरी आस्थावान् और साहसी महिला थीं और नरेन्द्र के लिए वे जीवन भर सतत प्रेरणा का स्रोत बनी रहीं ।

नरेन्द्रनाथ की किशोरावस्था के सम्बन्ध में उनके कालेज के एक सहपाठी ब्रजेन्द्रनाथ सील ने लिखा है—

"निस्सन्देह वे एक प्रतिभाशाली युवक थे---मिलनसार, व्यवहार में स्वतंत्र तथा रूढ़िमुक्त, एक बहुत अच्छे गायक, सामाजिक गोष्ठियों के प्राण, कुशल वाक्पटु, यद्यपि थोड़े तीखे और व्यंग्यात्मक---अपने तर्कों की धार से संसार के दिखावटीपन और थोथे आदर्शों को काटनेवाले---क्रुद्ध युवा की कुर्सी पर बैठकर तीखी आलोचना के मुखौटे के पीछे वे अपना अत्यन्त कोमल हृदय छुपाये रखते---पूरी तरह से एक उत्साही उन्मुक्त व्यक्ति के समान, पर उन्मुक्त व्यक्ति में जिस बात की कमी रहती है उस प्रचण्ड इच्छा-शक्ति से युक्त . . .और, सर्वोपरि, आँखों में ऐसा विलक्षण तेज, जो श्रोताओं को मुग्ध कर रखता।"

तीव्र मेधा और अद्‌भुत स्मरणशक्ति के धनी नरेन्द्र ने विश्व-इतिहास, खगोलशास्त्र, गणित, दर्शन, साहित्य, संगीत इत्यादि विषयों का खूब उत्साह से अध्ययन किया था और उन्होंने 'हेलेनीय सौन्दर्य तथा आंग्ल-जर्मन विचारों का एक सामंजस्यपूर्ण पूर्णता में गठबन्धन' करने की चेष्टा की थी।[1]

कालेज के दिनों में पाश्चात्य दार्शनिकों के विचार पढ़कर उनका ईश्वर-सम्बन्धी विश्वास डोल गया था। वे ईश्वर पर विश्वास करने के पूर्व ईश्वर का प्रत्यक्ष प्रमाण चाहते थे। यद्यपि सार्वभौमिक तार्किक विचार उनकी बुद्धि के स्तर पर प्रमुख थे, पर उनका संवेदनशील स्वभाव मात्र विविक्त और नीरस विचारणा से सन्तुष्ट नहीं था। वे एक सुदृढ़ आधार चाहते थे, ऐसा गुरु चाहते थे, जो जीवन में पूर्णता का ज्वलन्त विग्रह हो और जो उनका

१. रोमां रोलां : 'दि लाइफ ऑफ रामकृष्ण' (कलकत्ता अद्वैत आश्रम, १९७४), पृ० २२४।

मार्गदर्शन कर सके। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण वे अपने समकालीनों से अलग दिखाई पड़ते थे। अपने कालेज के सहपाठियों से भिन्न उनमें दार्शनिक विवेचन के अलावा आध्यात्मिक जीवन के प्रति एक उत्कट खिंचाव था।

उनकी आध्यात्मिक जीवन की ललक ही उन्हें उस समय के अनेक धार्मिक नेताओं के पास ले गयी, जो ब्राह्म-समाज से सम्बन्धित थे। उनकी भेंट महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर से हुई थी, जिन्होंने उनका उत्साहवर्धन किया था। वे उस समय केशवचन्द्र सेन के चुम्बकीय व्यक्तित्व और वक्तृत्व से प्रभावित थे। उनकी भजनमण्डली में वे गायक के रूप में सम्मिलित हो गये थे तथा 'आशा दल' के सदस्य थे। साधारण ब्राह्मसमाज का गठन होने पर वे उसके दीक्षित सदस्य बन गये थे।[२] वे उसकी अन्य गतिविधियों-- यथा जन-शिक्षा, नवगोपाल मित्र का हिन्दू मेला आदि— में भी भाग लेते।

नरेन्द्र ने सर्वप्रथम दक्षिणेश्वर के रामकृष्ण परमहंस का नाम जनरल असेम्बली इन्स्टीट्यूट जहाँ वे पढ़ते थे, के प्राचार्य रेवरेण्ड विलियम हेस्टी के माध्यम से सुना था। रे० हेस्टी ने वर्ड्सवर्थ की कविता 'एक्सकर्शन' (Excursion) पढ़ाते समय भावसमाधि को समझाने के लिए श्रीरामकृष्ण का उदाहरण दिया था। यह भी सम्भव है कि नरेन्द्र ने श्रीरामकृष्ण का नाम अपने नजदीक के ब्राह्मसमाजियों से भी सुना हो। ब्राह्मसमाज की पत्रि-काओं और पुस्तकों में परमहंस देव पर प्रशंसात्मक लेख

२. डा० आर.सी. मजूमदार : 'स्वामी विवेकानन्द, ए हिस्टोरिकल रिव्यू', जनरल प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित, १९६५, पृ० ६।

छपते रहते थे, और यह माना जा सकता है कि बड़े अध्ययन-शील नरेन्द्र ने वह सब निश्चित ही पढ़ा होगा। इसके अलावा, इस सम्भावना को भी नकारा नहीं जा सकता कि अपने पड़ोसी रामचन्द्र दत्त और सुरेन्द्रनाथ मित्र से, जो परमहंस देव के परम भक्त थे, नरेन्द्र ने उनके सम्बन्ध में सुना हो। वास्तव में १८७९ में जब रामचन्द्र दत्त परमहंस देव के कट्टर भक्त बने, तव से परमहंस देव सिमुलिया में काफी प्रसिद्ध हो गये थे। फिर भी, ऐसा लगता है कि इतनी सब जानकारी भी नरेन्द्र को दक्षिणेश्वर के सन्त के दर्शनों के लिए प्रेरित नहीं कर सकी थी।

कब और किन परिस्थितियों में नरेन्द्रनाथ श्रीराम-कृष्ण से पहली बार मिले थे इस सम्बन्ध में कई प्रकार के वर्णन मिलते हैं। स्वामी विवेकानन्द के पूर्वी और पश्चिमी शिष्यों द्वारा सम्पादित अँगरेजी में लिखी उनकी जीवनी 'दि लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द' के पहले संस्करण (भा. १, पृ. ५३) में दोनों की दक्षिणेश्वर में हुई भेंट को 'उनकी प्रथम भेंट' के रूप में निरूपित किया गया है, यद्यपि सुरेन्द्रनाथ मित्र के घर नवम्बर १८८१ में हुई दोनों की भेंट का एक मामूली सन्दर्भ भी दिया गया है। 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' के लेखक स्वामी सारदानन्द स्पष्टतया बत-लाते हैं कि पहली भेंट सुरेन्द्रनाथ मित्र के घर पर नरेन्द्र-नाथ के एफ. ए. की परीक्षा में २८ नवम्वर १८८१ को बैठने से पूर्व हुई थी। राखाल चन्द्र घोष, जो श्रीरामकृष्ण से छह माह पूर्व मिल चुके थे तथा उस सभा में उपस्थित थे, ने भी इस बात की पुष्टि की है।[3] बड़े अचरज की

३. देखें 'स्वामी ब्रह्मानन्द' (बँगला) (कलकत्ता : उद्बोधन कार्यालय, द्वि० संस्करण), पृ० ४८।

बात है कि नरेन्द्रनाथ स्वयं इस घटना का उल्लेख नहीं करते, जब वे 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' के लेखक महेन्द्रनाथ गुप्त से श्रीरामकृष्ण से हुई अपनी प्रथम भेंट का वर्णन करते हैं। तथापि अधिकांश जीवनीकार इस बात से सहमत हैं कि सिमुलिया के सुरेन्द्रनाथ मित्र के घर पहली बार दोनों की भेंट हुई थी। और यही भेंट दक्षिणेश्वर में उनकी उस ऐतिहासिक प्रथम भेंट के लिए प्रस्तावना स्वरूप बनी थी।

नरेन्द्रनाथ उस समय कलकत्ता विश्वविद्यालय से एफ. ए. की परीक्षा देने के लिए तैयारी कर रहे थे। सुरेन्द्रनाथ मित्र ने सिमुलिया के अपने घर में दक्षिणेश्वर के सन्त को आमंत्रित किया था और उस उपलक्ष में एक उत्सव का आयोजन किया था। यह सम्भवत: नवम्बर १८८१ की घटना है।[४] कोई अन्य अच्छा गायक उपलब्ध न होने से सुरेन्द्रनाथ ने नरेन्द्र से भक्तमण्डली को भजन सुनाने के लिए जोर देकर अनुरोध किया था। नरेन्द्र की मधुर आवाज ने श्रीरामकृष्ण को मुग्ध कर दिया था।

नरेन्द्र और श्रीरामकृष्ण की इस अनायास भेंट का

४. स्वामी सारदानन्द : 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भा० ३ (रामकृष्ण मठ, नागपुर), पृ० ५०। 'दि लाइफ' (१९५६ सं०, पृ० ३०) और रोमाँ रोलाँ के अनुसार पहली भेंट नवम्बर १८८० में हुई थी। पर यह बात उन परिस्थितियों में ठीक जँचती नहीं। कुछ अन्य जीवनीकारों के समान, नरेन्द्रनाथ के सहपाठी प्रियनाथ सिन्हा (इनका लेखक के रूप में नाम था गुरुदास बर्मन) अपनी पुस्तक 'श्रीश्रीरामकृष्ण चरित' में सुरेन्द्रनाथ मित्र के घर वाली भेंट का वर्णन ही नहीं करते।

बहुत थोड़ा वर्णन लिपिबद्ध मिलता है । नरेन्द्र सम्भवतः उस समय दक्षिणेश्वर के सन्त से विशेष प्रभावित नहीं हुए थे । वास्तव में नरेन्द्रनाथ की दृष्टि में वे अन्य साधारण लोगों जैसे ही लगे, उनको उनमें कुछ उल्लेखनीय नहीं दिखा ।[५] पर दूसरी तरफ श्रीरामकृष्ण ने अपनी भेदने-वाली दृष्टि से देख लिया था कि उस उग्र और आँधी की तरह प्रचण्ड युवक, जैसा कि नरेन्द्र उस समय थे, के बाह्य आवरण के भीतर उनका बहुप्रतीक्षित सन्देशवाहक शिष्य है । स्पष्ट ही है कि वे उस युवक की ओर आकर्षित हुए ।[६] सुरेन्द्रनाथ मित्र से बात करके तथा बाद में नरेन्द्र के सम्बन्धी[७] रामचन्द्र दत्त से पूछकर उन्होंने नरेन्द्र के सम्बन्ध में जानकारी ले ली । गायन समाप्त होने पर श्रीरामकृष्ण गायक के नजदीक आये और सावधानी से उन्होंने उसके शरीर के लक्षणों को देखा और फिर उसे यथाशीघ्र दक्षिणेश्वर के मन्दिर में आने का प्रेमपूर्वक निमंत्रण दिया ।

श्रीरामकृष्ण ने इसके पूर्व ही एक दिव्य दर्शन में नरेन्द्रनाथ को देखा था । परवर्तीकाल में श्रीरामकृष्ण ने अपने निकटस्थ शिष्यों के पास इस दर्शन का वर्णन किया

५. 'विवेकानन्द साहित्य', मायावती, सप्तम खण्ड, पृ० २५९ ।

६. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भा० ३, पृ० ५० । स्वामी ब्रह्मानन्द कहते थे—हमें ऐसा लगा कि नरेन्द्रनाथ को उस दिन देखते ही श्रीरामकृष्णदेव उनके प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे ।

७. स्वामी गम्भीरानन्द के अनुसार रामचन्द्र दत्त भुवनेश्वरी देवी के मामा थे, न कि चचेरे भाई, जैसा कि महेन्द्रनाथ दत्त ने लिखा है । ('युगनायक विवेकानन्द', बँगला, तृ सं., भाग १, पृ० ९४) ।

था । एक दिन समाधि में मग्न होकर उन्होंने देखा कि उनका मन एक ज्योतिर्मय पथ पर ऊपर उठता जा रहा है। और अन्त में खण्ड और अखण्ड की सीमा-रेखा को पार कर वह अखण्ड के राज्य में प्रविष्ट हो गया । वहाँ उसने दिव्य ज्योतिर्घनतनु सात प्राचीन ऋषियों को समाधिस्थ होकर बैठे देखा, जो ज्ञान और पुण्य में देवताओं से भी श्रेष्ठ थे। जब वे विस्मित होकर उनके महत्त्व के विषय में सोच रहे थे, इतने में उन्होंने देखा कि अखण्ड, भेदरहित, समरस, ज्योतिर्मण्डल का एक अंश घनीभूत होकर मानो एक दिव्य शिशु के रूप में परिणत हो गया है । वह देवशिशु उन ऋषियों में से एक के पास जाकर अपने कोमल हाथों से आलिगन करके अपनी अमृतमयी वाणी से उन्हें समाधि से जगाने की चेष्टा करने लगा। शिशु के कोमल प्रेम-स्पर्श से ऋषि समाधि से जागृत हुए और अधखुले नेत्रों से उस अपूर्व बालक को देखने लगे । उनके मुख पर प्रसन्नोज्ज्वल भाव देखकर ज्ञात हुआ मानो वह बालक उनका बहुत दिनों का परिचित हृदयधन है । वह देवशिशु अति आनन्दित हो उनसे कहने लगा, 'मैं जा रहा हूँ, तुम्हें भी आना होगा।' उसके अनुरोध पर ऋषि के कुछ न कहने पर भी उनके प्रेमपूर्ण नेत्रों से अन्तर की सम्मति प्रकट हो रही थी । इसके अनन्तर ऋषि पुनः समाधिस्थ हो गये । उस समय आश्चर्यचकित होकर श्रीरामकृष्ण ने देखा कि ऋषि के शरीर-मन का एक अंश उज्ज्वल ज्योति के रूप में परिणत होकर विलोम मार्ग से धराधाम में वहाँ पर अवतीर्ण हुआ, जहाँ नरेन्द्रनाथ रहते थे । श्रीरामकृष्ण ने जब नरेन्द्र को पहली बार देखा, तभी वे समझ गये कि यह वही ऋषि है। बाद में पूछे जाने पर श्रीरामकृष्ण देव ने यह स्वीकार किया

था कि वह देवशिशु और कोई नहीं वे स्वयं थे।

यह लगभग निश्चित-सा हो गया है कि ठाकुर और उनके शिष्य का पहला 'साक्षात्कार' दिसम्बर १८८१[८]

---

८. 'दि लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द' (कलकत्ता, अद्वैत आश्रम, १९८०) के नवीन और परिवर्धित संस्करण में (भा० १, पृ० ६०) यह बहुत सही लिखा है कि नरेन्द्र 'अपने दो साथियों के साथ पहली बार दक्षिणेश्वर दिसम्बर १८८१ में गये थे'। स्वामी गम्भीरानन्द ने अपने लेख 'त्यागी भक्तदेर श्रीरामकृष्ण-समीपे आगमन' (उद्बोधन, बंगाब्द १३५७, आश्विन एवं कार्तिक संख्या) में दिसम्बर १८८१ को प्रथम भेंट का समय रखा है। एस.एन. धर ने रविवार, १५ जनवरी १८८२ को इस ऐतिहासिक भेंट का दिन माना है और उसके पक्ष में तर्क दिये हैं (सन्दर्भ : विवेकानन्द केन्द्र, कन्याकुमारी द्वारा प्रकाशित 'ए कॉम्प्रिहेन्सिव बायोग्राफी ऑफ स्वामी विवेकानन्द', भा० १, पृ० ११०), पर वे तर्क ठोस नहीं प्रतीत होते; क्योंकि हम पाते हैं कि रविवार, २९ जनवरी १८८२ को मनोमोहन, रामचन्द्र, सुरेन्द्रनाथ, नरेन्द्र और नित्यगोपाल—इन पांचों ने दक्षिणेश्वर की यात्रा की थी। अपने परिचित भक्तों के सामने श्रीरामकृष्ण ने माँ-काली की सुन्दर व्याख्या की थी ('तत्त्वमंजरी', भा० ९, सं० ११, पृ० २०० के अनुसार)। तब तक नरेन्द्र उस दल के काफी परिचित सदस्य बन गये थे। एस.एन. धर के अनुसार नरेन्द्र की दूसरी दक्षिणेश्वर यात्रा ५ फरवरी १८८२ तथा तीसरी १२ फरवरी १८८२ को हुई थी। आगे हम पाते हैं कि नरेन्द्र १९ फरवरी १८८२ को दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव में उपस्थित थे। ('तत्त्वमंजरी', भा० १०, सं० १, पृ० ११ के अनुसार)। पर वे मंगलवार ७ फरवरी १८८२ को अनुपस्थित थे, जब रामचन्द्र और नित्यगोपाल दक्षिणेश्वर गये थे ('तत्त्वमंजरी',

के किसी दिन हुआ था। नरेन्द्र के एफ. ए. पास करने के तुरन्त बाद ही उनके पिता उनका विवाह अपनी पसन्द की कन्या से कर देना चाहते थे।[९] उसमें मोटे दहेज का भी प्रलोभन था, जिससे नरेन्द्र इंग्लैण्ड जाकर आय. सी. एस. की परीक्षा में बैठ सकते थे। नरेन्द्र ने पूरी दृढ़ता से इसके लिए मना कर दिया, क्योंकि उन्होंने अनुभव किया कि विवाह से उनकी आध्यात्मिक प्रगति रुक जाएगी। यौवन में पदार्पण करने के बाद से ही नरेन्द्र के अन्तर्मन में जीवन की दो विरोधी कल्पनाएँ उठा करती थीं—एक ओर ऐश्वर्य, आराम और सुख से भरपूर सांसारिक जीवन की कल्पना थी और दूसरी ओर सत्य की खोज में निकले संन्यासी के त्यागपूर्ण जीवन की। और उनमें ये कल्पनाएँ उठतीं विशेषकर रात्रि में सोने से पूर्व। और अन्त में दूसरी कल्पना ही उनके हृदय पर अधिकार कर बैठती। धीरे धीरे यह कल्पना घनीभूत होकर उनके भीतर सत्य को जानने की प्रबल इच्छा के रूप में परिणत हो गयी और वे उसका रास्ता पाने के लिए बेचैन हो उठे। रामचन्द्र दत्त उनकी सहायता के लिए आगे आये, उन्होंने सुझाव दिया, "यदि धर्मलाभ करने की ही इच्छा तुम्हें हुई हो, तो ब्राह्मसमाज आदि स्थानों में वृथा न

भा० ९, सं० १, पृ० ३ के अनुसार)।

९. 'लाटूमहाराजेर स्मृतिकथा' (बँगला) द्वि० स०, पृ० १०१ के अनुसार नरेन्द्र प्रायः दक्षिणेश्वर जाया करते थे। लाटू नरेन्द्र से उनके मकान पर श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव के दूसरे दिन अर्थात् २० फरवरी १८८२ को मिले थे। लाटू ने उनसे कहा, 'कल दक्षिणेश्वर में बड़ा उत्सव था। तुम वहाँ क्यों नहीं गये थे? वे

भटककर दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के पास चलो ।"[१०]

चाहे वे रे० हेस्टी रहे हों या रामचन्द्र दत्त, सुरेन्द्रनाथ मित्र रहे हों अथवा अन्य कोई व्यक्ति, जिन्होंने नरेन्द्र को दक्षिणेश्वर जाने की सलाह दी हो, यह तो सत्य है कि वह इस युवक के भीतर सुलगती आध्यात्मिक आग थी, उसके अन्दर सत्य को जानने की गहरी पिपासा थी और, सर्वोपरि, परिस्थितियों की कड़ी थी, जिसने उन्हें श्रीरामकृष्ण के चरणों में आश्रय लेने को प्रेरित किया था। भुवनेश्वरी देवी के अनुसार, "वह रामचन्द्र थे जो नरेन्द्र को श्रीरामकृष्ण के पास ले गये थे।"[११] परन्तु कुछ

(श्रीरामकृष्ण) बार-बार तुम्हारे बारे में पूछ-ताछ करते रहे। कृपया मेरे साथ दक्षिणेश्वर चलो, वे तुमसे मिलना चाहते हैं।'

नरेन्द्र—'अभी मेरे पास उनसे मिलने के लिए समय नहीं है। परीक्षा पास आ गयी है। फिर मैं कैसे उस पगले ब्राह्मण के लिए समय नष्ट कर सकता हूँ?'

यहाँ 'परीक्षा' से सम्भवतः कालेज की निजी परीक्षा की बात रही होगी। अब तक नरेन्द्र सम्भवतः कई बार दक्षिणेश्वर जा चुके थे। इस घटना से उसका भी मेल हो जाता है कि नरेन्द्र की पहली भेंट एफ.ए. की परीक्षा के एकदम पहले हुई होगी। परीक्षा २८ नवम्बर १८८१ से प्रारम्भ होकर पाँच दिन तक चली थी।

१०. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भा० ३, पृ० ५१। 'श्री-श्रीरामकृष्ण-पुँथि' के पृ० ३२८-२९ में अक्षयकुमार सेन द्वारा व्यक्त यह विचार कि इस प्रकार की जोर देकर कही हुई सलाह सुनकर नरेन्द्र ने अपने चाचा ज्ञान को दक्षिणेश्वर के सन्त के पास भेजा था, उनके अनुरोध पर वे गये और उन्होंने लौटकर सूचित किया कि दक्षिणेश्वर के तथाकथित सन्त और कुछ नहीं पागल हैं—अन्य किसी भी लेखक द्वारा पुष्ट नहीं होता।

११. भूपेन्द्रनाथ दत्त : 'स्वामी विवेकानन्द, पेट्रियाट प्रॉफेट—ए स्टडी', कलकत्ता, १९५४, पृ० १५५।

जीवनीकार लिखते हैं कि सुरेन्द्रनाथ मित्र ने नरेन्द्र से साथ में दक्षिणेश्वर चलने का आग्रह किया था और नरेन्द्र ने उसे मान लिया था। एक दिन अपने दो या तीन साथियों के साथ नरेन्द्र सुरेन्द्रनाथ के साथ उनकी घोड़ागाड़ी में दक्षिणेश्वर गये।[१२] पर जो सर्वसम्मत तथ्य है, वह यह

---

१२. गुरुदास बर्मन के अनुसार नरेन्द्र रामचन्द्र दत्त के संग अकेले ही दक्षिणेश्वर गये थे। वैकुण्ठनाथ सान्याल का भी यही मत है ('श्रीश्रीरामकृष्णलीलामृत', बँगला, द्वितीय संस्करण, पृ० २८६)। गिरीश चन्द्र घोष ने भी अपने लेख में यही मत रखा है (गिरीश चन्द्र घोष: 'श्री रामकृष्ण ओ विवेकानन्द', उद्बोधन, भा० ७, १५ माघ, १३११ बंगाब्द)।

परन्तु अक्षयकुमार सेन यह कहते हैं कि नरेन्द्र सुरेन्द्रनाथ मित्र के संग अकेले दक्षिणेश्वर गये थे।

'तत्त्वमंजरी' ('भक्त मनोमोहन', बँगला, उद्बोधन, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित के पृष्ठ ७८ में उद्धृत) में मनोमोहन लिखते हैं—'१८८१ के पौष (नवम्बर-दिसम्बर) महीने में भक्त रामचन्द्र दत्त, सुरेन्द्रनाथ मित्र और नरेन्द्रनाथ दत्त के साथ यह दीन सेवक भी एक गाड़ी से दक्षिणेश्वर पहुँचा था।' उसके बाद वे वर्णन करते हैं कि किस प्रकार रामचन्द्रदत्त के द्वारा नरेन्द्र का श्रीरामकृष्ण से परिचय कराया गया।

स्वामी सुबोधानन्द की डायरी, जो स्वामी विवेकानन्द की जीवनी का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है, में एक अलग ही वर्णन है। वे लिखते हैं कि नरेन्द्र पहली बार दक्षिणेश्वर हेमाली और अन्य लोगों के साथ गये थे। हेमाली उनका और राखाल दोनों का मित्र था। वे एक किराये की नौका से गये थे। उन्होंने नाववाले को यात्रा-भाड़ा चार आने दिये थे। राखाल कई बार पहले दक्षिणेश्वर जा चुके थे, इसलिए वे मार्गदर्शक बने थे। इस वर्णन के अनुसार यह

है कि यह ऐतिहासिक घटना शीतकाल के एक अपराह्न में, दिसम्बर १८८१ में, घटी थी।[१३]

श्रीरामकृष्णदेव से नरेन्द्र की दूसरी भेंट थी, पहली सुरेन्द्रनाथ मित्र के घर पर हो चुकी थी। फिर यह स्वामी सारदानन्द के वर्णन से भी मिलता है कि यह दल पश्चिम दरवाजे से श्रीरामकृष्ण के कमरे में प्रविष्ट हुआ था। जो पैदल या घोड़ागाड़ी द्वारा कलकत्ते से दक्षिणेश्वर पहुँचते थे, वे उनके कमरे में पूर्वी दरवाजे से प्रवेश करते थे। उत्तरी हवा से बचने के लिए उत्तरी दरवाजा बाँस की चटाई से बन्द था।

स्वामी सारदानन्द का मत है कि नरेन्द्र की पहली दक्षिणेश्वर-यात्रा उनकी श्रीरामकृष्ण से दूसरी भेंट थी, पर 'म' ('श्रीरामकृष्ण-वचनामृत', भा० ३, पृ० ६१९) में निम्नलिखित वार्तालाप लिपिबद्ध करते हैं—

'म'—पहले-पहल जिस दिन उनसे तुम्हारी मुलाकात हुई थी, वह दिन तुम्हें अच्छी तरह याद है?

नरेन्द्र—मुलाकात दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर में हुई थी, उन्हीं के कमरे में। उस दिन मैंने दो गाने गाये थे।

बँगला भाषा की पुस्तक 'कथामृत' के पाँचवें खण्ड के परिशिष्ट में मिलता है: 'तीन वर्ष पूर्व (१८८२) नरेन्द्र अपने कुछ ब्राह्म मित्रों के साथ श्रीरामकृष्ण के दर्शनों के लिए दक्षिणेश्वर आये थे और रात्रि में वहाँ रुके थे।' सम्भवतः यह किसी बादवाली भेंट के सम्बन्ध में है, पर इससे यह निश्चित है कि पहली भेंट के समय 'म' उपस्थित नहीं थे।

१३. 'वचनामृत', भा० ३, पृ० ५४१ में दिया है कि सिमुलिया ब्राह्मसमाज के वार्षिक महोत्सव में नरेन्द्र, राखाल, केदार आदि

१ जनवरी १८८२ ई० को ज्ञान चोधरी के मकान पर एकत्र हुए थे। यह भी लिखा है कि 'नरेन्द्र ने केवल थोड़े दिन हुए, राम आदि के साथ जाकर दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण का दर्शन किया है। वे बीच-बीच में सिमुलिया ब्राह्मसमाज में आते थे और वहां पर भजन-गाना एवं उपासना करते थे।'

○

हमीं अपने मित्र, हमीं अपने शत्रु

(गीताध्याय ६, श्लोक ५-९)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।६/५।।

आत्मना (अपने द्वारा) आत्मानम् (अपने आपका) उद्धरेत् (उद्धार करे) आत्मानं (अपने आपको) न (नहीं) अवसादयेत् (नीचे गिरने दे) हि (क्योंकि) आत्मा (जीवात्मा) एव (ही) आत्मनः (अपना) बन्धुः (मित्र है) आत्मा (जीवात्मा) एव (ही) आत्मनः (अपना) रिपुः (शत्रु है)।

"(मनुष्य) अपना उद्धार आप करे, अपने आपको नीचे न गिरने दे, क्योंकि वह स्वयं ही अपना मित्र है (और) वह स्वयं ही अपना शत्रु।"

पूर्व श्लोक में भगवान् कृष्ण ने 'योगारूढ़' अवस्था की व्याख्या की और उसकी प्राप्ति के उपायों का संकेत किया। अब प्रस्तुत श्लोक में यह बता रहे हैं कि योगारूढ़ की यह अवस्था हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहने से नहीं मिलती है, उसके लिए साधक को चेष्टा करनी पड़ती है। जैसे आधिभौतिक जीवन में उपलब्धियाँ पुरुषार्थ-लब्ध होती हैं, वैसे ही आध्यात्मिक जीवन में भी पुरुषार्थ के द्वारा ही मनुष्य कुछ हासिल कर सकता है। सामान्यतया अध्यात्म के क्षेत्र में यह प्रवृत्ति होती है कि ईश्वर या गुरु की कृपा से बेड़ा पार हो जाएगा, पर प्रश्न यह है कि वह कृपा कैसे प्राप्त होगी? क्या मात्र गुरु से मंत्र-दीक्षा ले लेने से ही

गुरु की कृपा मिल जाएगी ? यहाँ पर संकेत दे रहे हैं कि बिना स्वयं के पुरुषार्थ के न तो गुरु की कृपा होती है, न ईश्वर की। गुरु हमारे भोजन की सारी सामग्री जुटाने का श्रम कर सकते हैं और भोजन तैयार भी कर दे सकते हैं, पर खाना तो हमें स्वयं को ही पड़ेगा।

'श्रीरामचरितमानस' में पुरुषार्थ और भगवत्कृपा के समन्वय का बड़ा सुन्दर संकेत हुआ है। रामेश्वर में सेतुबन्ध हो गया। जाम्बवान् प्रभु श्री राम के पास आये और निवेदन किया, "प्रभो, वानरों और भालुओं ने मिल-कर बड़े श्रम से सेतु तैयार कर लिया है; आपकी आज्ञा हो तो वाहिनी को पार जाने का आदेश दूँ। सेतु सँकरा है, इसलिए सेना के पार होने में थोड़ा समय लगेगा। मैं कुछ बाद आकर आपको लिवा ले जाऊँगा।" प्रभु ने इस पर सम्मति देते हुए हँसकर कहा, "जाम्बवान्, चलो यदि मैं भी इसमें तुम्हारी कुछ सहायता कर सका तो।" और चलकर वे वानरों के बनाये सेतु पर आ खड़े होते हैं। गोस्वामीजी उसका वर्णन करते हुए लिखते हैं—

सेतु बंध ढिग चढ़ि रघुराई।
चितव कृपाल सिंधु बहुताई।।
देखन कहुँ प्रभु करुना कंदा।
प्रगट भए सब जलचर बृंदा।।
मकर नक्र नाना झष ब्याला।
सत जोजन तन परम बिसाला।।६/३/३-५
तिन्ह कीं ओट न देखिअ बारी।
मगन भए हरि रूप निहारी।।६/३/८

—'कृपालु श्री रघुनाथजी सेतुबन्ध के तट पर चढ़कर समुद्र का विस्तार देखने लगे। करुणा के मूल प्रभु के दर्शन

के लिए सब जलचरों के समूह जल के ऊपर निकल आये। उनमें बहुत तरह के मगर, घड़ियाल, मच्छ और सर्प थे, जिनके सौ-सौ योजन के बहुत बड़े विशाल शरीर थे। उनकी आड़ के कारण जल नहीं दिखाई पड़ता था। वे सब भगवान् का रूप देखकर मग्न हो गये।'

प्रभु ने यह देखकर जाम्बवान् से हँसते हुए कहा, "लो जाम्बवान्, तुम शिकायत कर रहे थे कि सेतु सँकरा है, इसलिए सेना के पार जाने में विलम्ब होगा; लो, देखो, यह कितना बड़ा सेतु अपने आप तैयार हो गया!"

पहले तो जाम्बवान् समझ नहीं पाये, पर जब प्रभु ने जलचरों से पटे हुए सागर की ओर संकेत किया, तो जाम्बवान् समझ तो गये, पर पूरी तरह निःसंशय नहीं हो पाये। सेतु के दोनों ओर जहाँ तक दृष्टि जाती थी, सागर जलचरों की पीठ से पट गया था और इस प्रकार प्रभु की कृपा से एक अति विशाल सेतु अपने आप तैयार हो गया था। जाम्बवान् ने अपना भय प्रकट किया, "महाराज, आप जिस सेतु का संकेत कर रहे हैं, वह तो अत्यन्त ख़तरे-वाला है। कोई वानर यदि जलचरों की पीठ पर पैर रखकर पार करना चाहे और यदि जलचर जल में डुबकी लगा दे, तब तो वह वानर उनका कलेवा ही हो जाएगा। कौन भला ऐसा दुस्साहस करेगा?" प्रभु बोले, "विश्वास न हो तो परीक्षा करके देख लो।" बस, क्या था, वानर शिला-खण्ड लेकर जलचरों पर प्रहार करने लगे, पर एक भी जलचर अपनी जगह से हटा नहीं, सब टकटकी लगाये हुए प्रभु को देखते रहे—

प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे।
मन हरषित सब भए सुखारे।।६/३/७

—'वे सब प्रभु के दर्शन कर रहे हैं, हटाने से भी नहीं हटते। सबके मन हर्षित हैं, सब सुखी हो गये।'

प्रभु ने जाम्बवान् से हँसकर पूछा, "अब कर ली न परीक्षा?"

जीव के साथ यही समस्या है। उसे अपने कर्तृत्व का तो भरोसा है, पर ईश्वर के कर्तृत्व पर वह भरोसा नहीं कर पाता। उसे अपने बनाये पुल पर तो विश्वास होता है, पर भगवान् की कृपा से बने पुल पर वह विश्वास नहीं कर पाता!

जाम्बवान् ने सिर झुका लिया। सेना को पार जाने की आज्ञा दे दी गयी और सब लोग भगवान् श्री राम समेत लगभग एक साथ सागर-पार उतर आये—

सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभ पंथ उड़ाहिं।
अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहि जाहिं ॥६/४

—बहुत से बन्दर तो आकाश-मार्ग से उड़कर चले गये, बहुत से अपने बनाये पुल पर से गये और शेष सब जलचरों की पीठ से बने पुल से होकर पार गये। जाम्बवान् प्रभु का यह चमत्कार देख भावविभोर हो गये, वे प्रभु के चरणों पर गिरकर बोले, "प्रभो, जब आप इतने अल्प समय में इतना बढ़िया और विशाल पुल बना सकते थे, तब यही आपने पहले क्यों नहीं किया—नाहक वानर-भालुओं को इतना श्रम करना पड़ा और समय भी बहुत लग गया!"

मन्द स्मित के साथ प्रभु ने उत्तर दिया, "सुनो जाम्बवान्, यदि वानर-भालुओं ने यह सेतु न बनाया होता, तो मैं कहाँ पर खड़ा होकर अपनी कृपा का सेतु बनाता?"

यही पुरुषार्थ की प्रयोजनीयता है। बिना पुरुषार्थ किये हमें कहीं कुछ नहीं मिलता। इसलिए प्रस्तुत श्लोक में पुरुषार्थ पर बल दिया गया है और कहा गया है कि यह मनुष्य के स्वयं के अधिकार की बात है कि वह या तो अपना उद्धार कर ले या फिर अपने को नीचे गिरा ले। कहा भी तो है—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता।
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा॥

—सुख और दुःख का देनेवाला और कोई नहीं, हम स्वयं हैं। कोई दूसरा व्यक्ति हमें सुख या दुःख देता है ऐसा सोचना कुबुद्धि है। यदि कहा जाय कि भाग्य नाम की भी तो कोई चीज होती है, तो उसके उत्तर में पूछा जा सकता है कि यह भाग्य है क्या? यदि हम विवेचना करके देखें तो हम पाएँगे कि भाग्य हमारे ही कर्मों से निर्मित होता है, इसलिए भाग्य के लिए भी हमीं उत्तरदायी हैं। इस प्रकार अपने उत्थान या पतन की सारी जिम्मेदारी स्वयं हमीं पर आ पड़ती है। इसी तथ्य को विवेच्य श्लोक में घोषित किया गया है और बतलाया गया है कि हम स्वयं ही अपने मित्र भी हैं और शत्रु भी।

यह सुनकर विचित्र लगता है कि व्यक्ति स्वयं अपना मित्र भी है और शत्रु भी। ये विरोधी बातें एक ही आधार में कैसे सम्भव हैं इसका कारण बतलाते हुए कहते हैं—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६/६॥

येन (जिस) आत्मना (जीवात्मा द्वारा) आत्मा (देह-मन-इन्द्रियादि) जितः (जीता हुआ है) तस्य (उस) आत्मनः (जीवात्मा का) आत्मा (मन) एव (ही) बन्धुः (मित्र है) तु

(परन्तु) अनात्मनः (जिस जीवात्मा ने देह-मन-इन्द्रियादि को नहीं जीता है उसका) आत्मा (मन) शत्रुवत् (शत्रु की तरह) एव (ही) शत्रुत्वे (शत्रुता में) वर्तेत (प्रवृत्त होता है)।

"जिस जीवात्मा के द्वारा देह-मन-इन्द्रिय आदि जीत लिये गये हैं, उस जीवात्मा का मन ही मित्र है, किन्तु जो अनात्मा है अर्थात् जिस जीवात्मा ने देह-मन-इन्द्रियादि को नहीं जीता है, उसका मन शत्रु के समान उससे शत्रुता ही भँजाता रहता है।"

हम पूर्व में एकाधिक बार कह चुके हैं कि संस्कृत भाषा में 'आत्मा' शब्द देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अन्तःकरण, इन सभी अर्थों में प्रयुक्त होता है; फिर जीवात्मा एवं शुद्ध आत्मतत्त्व के लिए भी उसका उपयोग जाहिर है ही। यहाँ पर कहा जा रहा है कि जो व्यक्ति अपने देह-मन-इन्द्रियादि को जीत लेता है, वह अपना मित्र बन जाता है, उसका मन उसके समस्त कार्यों में सहयोगी बन जाता है; पर जिस जीवात्मा ने देह-मन-इन्द्रियों पर काबू नहीं किया, उसका मन उसके साथ सदैव शत्रु के समान बर्ताव करता है। शत्रु वह है, जो अहित करे, उल्टा करे। अनियंत्रित मन किसी अच्छी बात को सधने नहीं देता और जीव को हर प्रकार से हानि ही पहुँचाता है।

यह जो कहा कि जो पुरुषार्थी अपने दृढ़ निश्चय से अपने अन्तःकरण को जीत लेता है, उसका मन उसके साथ मित्र का बर्ताव करता है उसका अर्थ और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥६/७॥

शीतोष्णसुखदुःखेषु (सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादिकों में) तथा (तथा) मानापमानयोः (मान और अपमान में) जितात्मनः

(जिसने अपने को नियंत्रित कर लिया है ऐसे उस) प्रशान्तस्य (प्रशान्तचित्त व्यक्ति के लिए) परमात्मा (परमात्मा) समाहितः (अच्छी तरह प्राप्त है)।

"सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान आदि में जिसने अपने को नियंत्रित कर लिया है ऐसे उस प्रशान्तचित्त (व्यक्ति) के लिए परमात्मा अच्छी तरह प्राप्त है।"

मन की मित्रता का अर्थ यह है कि जीवन के द्वन्द्वों में भी वह अविचलित बना रहता है। यदि मन हमारा मित्र हो, तो भयानक प्रतिकूलता भी हमें अपने लक्ष्य से डिगा नहीं पाती। पर यदि मन ताबे में न होने के कारण हमारा शत्रु है, तो तनिक-सी प्रतिकूलता हमें विचलित कर दुःखी और अशान्त बना देती है।

यहाँ पर तीन द्वन्द्वों का उल्लेख किया गया है—सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान। सुख-दुःख का द्वन्द्व अन्य दोनों द्वन्द्वों में भी समान रूप से निहित है, पर एक सूक्ष्म अन्तर है। सर्दी-गर्मी से होनेवाले सुख-दुःख विशेषकर देह के स्तर पर होते हैं, जबकि मान-अपमान से उपजे सुख-दुःख मन को व्यापते हैं। सर्दी-गर्मी की चोट पहले शरीर पर होती है, जबकि मान-अपमान की चोट मन पर। दोनों ही द्वन्द्वों में सुख-दुःख का अनुभव मानसिक धरातल पर जाकर ही होता है। इसलिए जो 'जितात्मनः' है, जिसने अपने देह-मन-इन्द्रिय आदिकों को जीत लिया है, उसका मन ऐसे द्वन्द्वों में भी शान्त बना रहता है, क्योंकि वह इन द्वन्द्वों को आने-जानेवाला मानता है और ऐसा मानकर वह अपने आत्मस्वरूप में—परमात्मा में—निश्चल होकर स्थित रहता है। यही परमात्मा का अच्छी तरह प्राप्त होना है। परमात्मा हमारे भीतर सदैव आत्मा के

रूप में विराजित है, पर हमें सब समय इस तथ्य की स्मृति नहीं रहती। पर जिस समय कर्मयोग के सहारे मन का कल्मष धुल जाता है और आत्मा पर पड़ा आवरण हटने लगता है, तब हमारे मन में अन्तःस्थ परमात्मा की स्मृति उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है; और जब यह आवरण पूरी तरह दूर हो जाता है, तब यह स्मृति हर समय बनी रहती है। इसी को 'परमात्मा का समाहित होना' कहते हैं।

परमात्मा और आत्मा दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं, दोनों एक ही हैं। एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि परमात्मा बिम्ब है और अन्तःकरण में उसका पड़नेवाला प्रतिबिम्ब आत्मा है। मन यदि चंचल है, तो प्रतिबिम्ब भी हिलता-डुलता, रूप बदलता दिखाई देता है। तब बिम्ब और प्रतिबिम्ब में कोई समानता नहीं मालूम पड़ती। पर जब मन निश्चंचल हो जाता है, तब प्रतिबिम्ब मानो अपने बिम्ब से एकरूप हो जाता है। वह अनन्त परमात्मा व्यक्ति के अन्तःकरण से मानो घिरकर, उससे उपहित होकर आत्मा या जीवात्मा कहलाता है। अन्तःकरण की उपाधि दूर होने पर जीवात्मारूप प्रतिबिम्ब परमात्मारूप बिम्ब से तादात्म्य का अनुभव करता है। इसी को 'परमात्मा का समाहित होना' कहते हैं।

जिसके लिए 'परमात्मा समाहितः' है, उसे गीता 'योगी' कहकर पुकारती है। आगे के श्लोक में ऐसे योगी के लक्षण बतलाये जा रहे हैं—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ।।६/८।।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा (ज्ञान-विज्ञान से तृप्त अन्तःकरण-वाला) कूटस्थः (विकाररहित) विजितेन्द्रियः (इन्द्रियों को

अच्छी तरह से जीत लेनेवाला) समलोष्टाश्मकांचनः (मिट्टी-पत्थर और सुवर्ण के प्रति समदृष्टि रखनेवाला) योगी (योगी) युक्तः (युक्त) इति (ऐसा) उच्यते (कहा जाता है)।

"ज्ञान-विज्ञान से तृप्त अन्तःकरणवाला, विकाररहित, इन्द्रियों को अच्छी तरह से जीत लेनेवाला (और इसके फलस्वरूप) मिट्टी-पत्थर तथा सुवर्ण को समान दृष्टि से देखनेवाला योगी युक्त (सिद्धावस्था को पहुँचा हुआ) कहा जाता है।"

यहाँ पर 'युक्त' शब्द का प्रयोग 'योगारूढ़' के अर्थ में किया गया है। इसी अध्याय के तीसरे और चौथे श्लोकों में यह 'योगारूढ़' शब्द आया है। हमने अपने पिछले गीता-प्रवचन में इसकी विस्तार से व्याख्या की है। यहाँ पर योगी के लक्षण बतलाते हुए वस्तुतः योगारूढ़ स्थिति का ही आख्यान किया जा रहा है।

आजकल अपने नाम के साथ 'योगी' या 'योगिराज' लिखना एक फैशन-सा हो गया है। किसी ने कुछ आसन सीख लिये कि योगी बन गया! नाक दबाकर थोड़ा प्राणायाम करने लगा कि योगिराज का खिताब लगा लिया! यहाँ पर योगी की सही कसौटी प्रस्तुत करते हुए उसके चार लक्षण बतलाते हैं——(१) ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा, (२) कूटस्थः, (३) विजितेन्द्रियः और (४) समलोष्टाश्म-कांचनः।

(१) ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा :——योगी का अन्तःकरण ज्ञान और विज्ञान से तृप्त रहता है। गीता में ये 'ज्ञान' और 'विज्ञान' शब्द कई बार एक साथ आये हैं। सबसे पहले अध्याय ३ के ४१ वें श्लोक में शब्दों का यह जोड़ा आता है। जैसा कि कहा जा चुका है, 'ज्ञान' वह है, जिसे हम पुस्तकों से पढ़कर तथा गुरुमुख से सुनकर जानते हैं, यह

पठन या श्रवण से उपजता है । इसे हम 'परोक्ष' ज्ञान भी कहते हैं । पर जब वह पठित और श्रुत ज्ञान बारम्बार मनन और निदिध्यासन के द्वारा हमारी अपनी अनुभूति में पर्यवसित होता है, तब उसे 'विज्ञान' कहते हैं । इसे 'अपरोक्ष' ज्ञान भी कहा जा सकता है । भगवान् भाष्यकार इस श्लोक पर भाष्य करते हुए कहते हैं—'ज्ञानं शास्त्रोक्त-पदार्थानां परिज्ञानं विज्ञानं तु शास्त्रतो ज्ञातानां तथा एव स्वानुभवकरणम्'—अर्थात् "शास्त्रोक्त पदार्थों को समझना 'ज्ञान' कहलाता है तथा शास्त्र से समझे हुए भावों को वैसे ही अपने अन्तःकरण में प्रत्यक्ष अनुभव करना 'विज्ञान' है ।"

फिर, यह भी कहा जाता है कि अनेक को एक में देखना 'ज्ञान' है और एक को अनेक रूपों में देखना 'विज्ञान' है । 'नेति नेति' करते हुए उस परमतत्त्व की ओर बढ़ना ज्ञान की प्रक्रिया है और परमतत्त्व में पहुँचकर उसका स्थावर-जंगम सबमें 'इति इति' कहते हुए अनुभव करना विज्ञान की प्रक्रिया है ।

श्रीरामकृष्ण इसे समझाने के लिए एक उदाहरण देते थे । वे कहते थे—किसी ने दूध के सम्बन्ध में सुना है या पढ़ा है, किसी ने दूध को देखा है और किसी ने दूध को चखा है । जिसने दूध के बारे में केवल सुना या पढ़ा है, वह है 'अज्ञान' और ऐसा अज्ञान कभी-कभी विपरीत ज्ञान का भी कारण बन जाता है ।

एक भिखारी था, जन्म से ही अन्धा पैदा हुआ था । उसके जन्मते ही उसके माँ-बाप उसे फेंककर चले गये थे । भिखारियों ने ही उसे पाला-पोसा था. एक दिन रास्ते में उसे अपना आँखोंवाला भिखारी मित्र रामू मिला । रामू ने कहा, "क्यों सूरदास, आज सेठ के यहाँ नहीं आये ? सेठ ने

बढ़िया भण्डारा दिया था।" अन्धा बोला, "नहीं भाई, मुझे पता नहीं था।" "आज तो बढ़िया-बढ़िया चीजें खाने को मिलीं, पर खीर लाजवाब थी"—रामू बतियाया। "खीर क्या होती है, भाई?"—अन्धे ने पूछा। "अरे, खीर नहीं जानते! वही जो चावल और दूध से बनायी जाती है"—रामू बोला। "चावल तो जानता हूँ, पर यह दूध क्या है?"—अन्धे ने प्रश्न किया। "तुम दूध नहीं जानते? अरे वही, जो पानी के समान पतला होता है, पर उसका रंग सफेद होता है," रामू ने समझाने की कोशिश की। "सफेद? यह क्या होता है, भाई?"—अन्धे ने जिज्ञासा प्रकट की। "अरे, अब तुम्हें कैसे समझाऊँ कि सफेद क्या होता है। अरे वही, बगुले-जैसा!" "बगुला?—अन्धे का प्रश्न था, "यह बगुला क्या बला है, भाई?" अब रामू कैसे अन्धे को समझाये कि बगुला क्या है। वह सोचने लगा। उसके दिमाग में एक 'आइडिया' आयी, उसने अपने पंजे और हाथ को बगुले के आकार में टेढ़ा बनाकर अन्धे के सामने धर दिया और उसका हाथ पकड़कर अपने उस टेढ़े हाथ पर रखते हुए कहा, "लो सूरदास, हाथ फेरकर देख लो बगुला कैसा होता है।" अन्धे ने अपने मित्र के टेढ़े किये हाथ पर अपना हाथ फेरा और बोल उठा, "यह तो बहुत टेढ़ा है, भाई; ऐसी टेढ़ी खीर तुमने कैसे खायी होगी?"

यह सुनकर मिला हुआ ज्ञान है, जो न केवल अज्ञान है, बल्कि विपरीत ज्ञान का कारण बन गया है। पढ़कर भी जो ज्ञान मिलता है, उसे भी श्रीरामकृष्ण 'अज्ञान' की श्रेणी में रखते हैं। यदि पढ़कर मिले ज्ञान के पीछे गुरु का, जानकार व्यक्ति का मार्गदर्शन न रहा, तो वह वस्तुतः अज्ञान ही है। हमने शास्त्र में पढ़ा—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'— 'यह

सारा ब्रह्म ही है ।' लोटा ब्रह्म, थाली ब्रह्म, खाट ब्रह्म, पुस्तक ब्रह्म, सिंह ब्रह्म, साँप ब्रह्म, सन्त ब्रह्म, दुष्ट ब्रह्म, खाद्य पदार्थ ब्रह्म, अभक्ष्य पदार्थ ब्रह्म, शुभ भी ब्रह्म, अशुभ भी ब्रह्म, आदि आदि । यदि ऐसा है तब फिर पाप-पुण्य में अन्तर क्यों ? सदाचार और दुराचार में भेद क्यों ? यदि इस कथन को हम गुरु के माध्यम से न समझें, तो पढ़कर मिला ज्ञान हमारे अज्ञान का ही तो कारण होगा । ऊपर में हमने ज्ञान की परिभाषा देते हुए जो कहा कि जो 'पढ़कर तथा गुरुमुख से सुनकर' हमें अर्थबोध होता है, वह ज्ञान है, तो इसके पीछे यही भाव निहित है कि मात्र अपने तई पढ़कर या ऊपर ऊपर से सुनकर हम जो जानकारी हासिल करते हैं, वह 'ज्ञान' नहीं है । ज्ञान वह है, जब हम उस प्राप्त जानकारी को जानकार व्यक्ति के द्वारा, गुरु के द्वारा ठीक-ठीक समझ लेते हैं ।

श्रीरामकृष्ण की दृष्टि में ज्ञानी वह है, जिसने दूध को को देखा है । पर दूध को मात्र देखने से उसके सम्बन्ध में निःसंशय नहीं हुआ जा सकता । यदि कोई उस व्यक्ति के सामने, जिसने दूध को देखा भर है, तीन कटोरियाँ रख दे, जिनमें चूने का घोल, मठा और दूध रखा हो और उससे कहे कि दूधवाली कटोरी बताओ, तो वह देखकर बता नहीं सकेगा, क्योंकि तीनों चीजें दिखने में समान दिखती हैं । पर जिसने दूध को चखा है, वह एक कटोरी उठाकर चखेगा और कहेगा—'यह दूध नहीं है' । दूसरी कटोरी को उठाकर चखेगा और कहेगा—'यह दूध नहीं है' । तीसरी को उठा-कर चखेगा और कहेगा—'यह दूध है' । श्रीरामकृष्ण की दृष्टि म यह 'विज्ञानी' है, इसका ज्ञान निर्दोष हो जाता है ।

इसी प्रकार जिसने तत्त्व को पढ़कर, सुनकर, विचार

करके, समझ लिया है, वह तो 'ज्ञानी' है, पर जिसने तत्त्व की अनुभूति कर ली है, वह है 'विज्ञानी'। ज्ञानी के अन्तःकरण में तत्त्व को लेकर कभी संशय उठ सकता है, पर विज्ञानी के सारे संशय छिन्न हो जाते हैं। 'मुण्डकोपनिषद्' (२/२/८) कहता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

—'उस परावर (कारणकार्यरूप) ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर इस जीव की हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं। यह 'विज्ञानी' का ही वर्णन है।

सुप्रसिद्ध पश्चिमी विचारक बर्ट्रण्ड रसेल ने knowledge (नॉलेज=ज्ञान) और wisdom (विज्डम=प्रज्ञा) का बड़ा सुन्दर विश्लेषण किया है। हम ज्ञान और विज्ञान के अर्थ में क्रमशः knowledge और Wisdom को ले सकते हैं। रसेल अपने 'The Impact of Science on Society' नामक ग्रन्थ में (पृष्ठ १२०-२१) इस सम्बन्ध में जो कहते हैं, उसकी चर्चा हम अपने ५७वें 'गीताप्रवचन' में विस्तार के साथ कर चुके हैं। तो भी उनकी एक बात दुहराने का लोभ हम रोक नहीं पा रहे हैं। वे कहते हैं—'Unless men increase in wisdom as in knowledge, increase of knowledge will be increase of sorrow'—अर्थात् जब तक मनुष्य 'नॉलेज' के ही समान 'विज्डम' में भी नहीं बढ़ते, 'नॉलेज' का बढ़ना बस दुःख का ही बढ़ना होगा।

कितना सही कहा बर्ट्रण्ड रसेल ने—'नॉलेज' का बढ़ना दुःखों का ही बढ़ना है। ज्ञान हमारे दुःखों का अन्त

नहीं कर सकता । उसके लिए हमें विज्ञान चाहिए, 'विज्डम' चाहिए, और वही 'अब' और 'यहाँ' के—काल और देश के अत्याचार से हमें छुटकारा दिला सकेगा ।

ऐसे ज्ञान और विज्ञान से जिसका अन्तःकरण तृप्त हुआ है, वह योगी है । आचार्य शंकर अपने भाष्य में लिखते हैं—'ज्ञानविज्ञानाभ्यां तृप्तः संजातालंप्रत्यय आत्मा अन्तः-करणं यस्य स ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा'—"ज्ञान और विज्ञान से जिसका अन्तःकरण तृप्त है अर्थात् जिसके अन्तःकरण में ऐसा विश्वास उत्पन्न हो गया है कि 'बस, अब कुछ भी जानना बाकी नहीं है', वह ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा है ।"

(२) कूटस्थः :—'कूट' शब्द के 'आकाश', 'शिखर', 'मिथ्या', 'निहाई' आदि अर्थ किये गये हैं । जैसे आकाश स्थित रहता है और मेघ आते-जाते रहते हैं, वैसे ही योगी भी संसार के परिवर्तनों में यथावत् बना रहता है । या फिर जैसे पर्वत-शिखर आँधी-पानी, सर्दी-गर्मी, बर्फीले तूफान में भी अकम्पित खड़ा रहता है, वैसे ही योगी भी जीवन के घात-प्रतिघात में अविचलित बना रहता है । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि योगी इस बदलते रहनेवाले मिथ्या संसार में एकसमान स्थिर रहता है । या फिर जैसे निहाई पर सोना, चाँदी, लोहा आदि रखकर सुनार या लोहार बारम्बार उस पर हथौड़े की चोट करता है, फिर भी वह हिलता-डुलता नहीं, अचल बना रहता है, इसी प्रकार योगी भी तरह-तरह के बड़े से बड़े दुःखों के आ पड़ने पर भी अपनी स्थिति से तनिक भी विचलित नहीं होता ।

(३) विजितेन्द्रियः :—योगी अपनी इन्द्रियों को अच्छी तरह जीतनेवाला होता है । 'जितेन्द्रिय' वह है, जो अपनी इन्द्रियों को इच्छानुसार रोक सकता है और 'विजितेन्द्रिय'

वह है, जो अपनी इन्द्रियों को इच्छानुसार कहीं भी लगा सकता है। 'कूटस्थ' कहकर संकेत किया कि योगी हलन-चलनशील स्वभाववाले 'मन' को जीत लेता है। अब कहते हैं—वह 'इन्द्रियों' पर काबू पा लेता है।

(४) समलोष्टाश्मकांचनः :—इससे यह सूचित करते हैं कि योगी भेद करनेवाली 'बुद्धि' को भी अपने वश में कर लेता है। फलस्वरूप उसे मिट्टी का ढेला, पत्थर और सुवर्ण एकसमान लगते हैं। न तो मिट्टी-पत्थर के प्रति उसकी हेयबुद्धि होती है, न सुवर्ण के प्रति उपादेय-बुद्धि।

इस सम्बन्ध में राँका और बाँका की एक सुन्दर कथा कही जाती है। दोनों प्रसिद्ध भक्त दम्पति हो गये हैं। वे जंगल से सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी करते और उसे बेचकर अपना जीवन-निर्वाह करते। एक दिन वे जंगल जा रहे थे। बाँका कुछ पीछे थी। राँका ने रास्ते में सोने की मुहरें पड़ी देखीं तो उसके मन में आया—बाँका स्त्री है, कहीं सोना देखकर उसके मन में लोभ न आ जाय, इसलिए वह पैर से उस पर मिट्टी ढकने लगा। इतने में बाँका पास आ गयी और पूछने लगी, "यह क्या कर रहे हो?" राँका बोला, "सोने की मुहरें पड़ी थीं, मैंने सोचा कहीं वह देख तुम्हारे मन में लोभ न आ जाय, इसलिए धूल से ढके दे रहा था।" इस पर बाँका हँस उठी, बोली, "मिट्टी पर मिट्टी डालने से क्या लाभ!"

अब अगले श्लोक में बतलाते हैं कि ऐसे योगियों में भी वह योगी विशिष्ट है, जो सबके प्रति समबुद्धि रखता है—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥६/९॥

सुहृद्-मित्र-अरि-उदासीन-मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धुषु (सुहृद्, मित्र, बैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी [और] बन्धुगणों में) [तथा (तथा)] साधुषु (धर्मात्माओं में) च (और) पापेषु (पापियों में) अपि (भी) [यः (जो)] समबुद्धिः (समान भाववाला है) [सः (वह)] विशिष्यते (अति श्रेष्ठ है)।

"सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी (और) बन्धुओं में (तथा) धर्मात्माओं एवं पापियों में भी (जो) समान भाववाला (है), (वह) अति श्रेष्ठ है।"

इससे पूर्व के ८वें श्लोक में भी कहा कि योगी 'समलोष्टाश्मकांचन' होता है, वहाँ भी उसकी समदृष्टि की बात कही गयी, तो अब इस श्लोक में फिर से उसी बात को दुहराने का और यह कहने का क्या तात्पर्य है कि समबुद्धि रखनेवाला योगी विशेष होता है? इसका उत्तर यह है कि पूर्व श्लोक में योगी की उस स्थिति का वर्णन है, जो उसके अपने आप से ही सम्बन्धित है, वह अपने आप में ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, कूटस्थ है, आदि। वहाँ बाह्य संसार की उस पर क्या प्रतिक्रिया होती है यह नहीं बतलाया। जो अपने आप में तृप्त है ऐसा व्यक्ति जब बाहरी दुनिया के सम्पर्क में आता है, जब अकारण निन्दा करनेवालों को देखता है, तो सम्भव है वह विचलित हो सकता है। जब उसे ऐसा कोई व्यक्ति मिले, जो दुराचारी है, जो बिना किसी कारण के उसके प्रति बैरभाव रखता है, तो हो सकता है, उसका कूटस्थ-भाव डगमगा जाय। हमने यह देखा है कि साधक जब एकान्त में अकेले रहता है, तो ऐसा लगता है कि वह पहुँचा हुआ है; पर जब उसे दूसरों के साथ मिलकर काम करने का मौका लगता है, तो उसके आनुषंगिक दोष, उसकी कमियाँ प्रकट होने लगती हैं। तब मालूम

पड़ता है कि उसमें क्रोध कितना है, ईर्ष्या कितनी है, द्वेष कितना है, अहंकार कितना है। मनुष्य के चरित्र की कसौटी अकेले रहकर नहीं होती, वह तो दूसरों के साथ मिलकर रहने से होती है। इसीलिए प्रस्तुत श्लोक में बतला रहे हैं कि जो योगी सुहृद्, मित्र, बैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, सम्बन्धी, धर्मात्मा और पापी सबमें समान भाव रखता है, वह सर्वश्रेष्ठ है और योगियों में विशेष है।

पूर्व श्लोक में मिट्टी-पत्थर और सुवर्ण इन जड़ वस्तुओं में समबुद्धि रखने की बात बतलायी। जड़ वस्तुओं में सम-भाव रखना अपेक्षाकृत सहज है, क्योंकि वे react (प्रति-क्रिया) नहीं करतीं। पर चेतन वस्तुएँ तो react करती हैं, पशु react करते हैं, और सबसे ज्यादा तो मनुष्य react करते हैं। अतः जो मनुष्यों द्वारा प्रकट की गयी प्रतिक्रिया में भी अपनी बुद्धि को समभाव में रख सकता है, वह निश्चय ही योगियों में सर्वश्रेष्ठ है।

'सुहृद्' वह है, जो प्रति-उपकार की अपेक्षा न करते हुए अपने स्वभाव से ही उपकार करनेवाला है। 'मित्र' वह है, जो परस्पर प्रेम और एक दूसरे का हित करनेवाला है। सुहृद् बिना मेरे प्रेम किये ही मुझसे प्रेम करता है, जबकि मित्र मुझसे प्रेम की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार सुहृद् वह है, जो हमसे स्नेह करता है और मित्र वह, जिससे हम स्नेह करते हैं। 'अरि' (बैरी) वह है, जो हमसे शत्रुता करता है और 'द्वेष्य' वह है, जिसके स्वभाव से ही प्रतिकूल आचरण के कारण हम उससे शत्रुता करते हैं। इस प्रकार अरि वह है, जो छिपकर हमारा बुरा करता है और द्वेष्य वह, जो प्रकट में। 'उदासीन' वह है, जो दो व्यक्तियों की लड़ाई में उपेक्षा-भाव बर्तता है, और 'मध्यस्थ' वह, जो झगड़ते

लोगों के पास जाकर झगड़े को शान्त करने की चेष्टा करता है। 'बन्धु' आत्मीय-स्वजन को कहते हैं। अब संसार में यह स्वाभाविक है कि व्यक्ति का सुहृद्' मित्र, मध्यस्थ, अपने कुटुम्बीजन और साधु-सदाचारियों के प्रति प्रेमभाव रहेगा तथा बैरी, द्वेष्य और पापियों के प्रति द्वेष और घृणा-भाव। जो सन्मार्ग पर चल रहे हैं ऐसे विवेकी पुरुषों के मन में भी प्रथम श्रेणी के लोगों के प्रति राग और दूसरी श्रेणी के व्यक्तियों के प्रति द्वेष देखा जाता है। अच्छे के के प्रति राग और बुरे के प्रति द्वेष तो बहुत स्वाभाविक है। पर इस योगी की विशिष्टता इसमें है कि ऐसे परस्पर अत्यन्त विरुद्ध स्वभाववाले मनुष्यों में भी उसका समभाव रहता है। इसका तात्पर्य यह कि यदि उसका अपना आत्मीय तथा उसका शत्रु दोनों जोखिम में हैं और यदि उसके शत्रु को सेवा की अधिक आवश्यकता होगी, तो वह शत्रु की सेवा को आगे बढ़ जाएगा—ऐसा नहीं सोचेगा कि वह तो मेरा शत्रु है, उसे मरने दो, मैं क्यों उसकी सेवा करूँ। यदि धर्मात्मा और पापी दोनों संकट में हों तथा पापी को सेवा की अधिक आवश्यकता हो, तो वह योगी पापी की सेवा में अपने को लगा देगा। इसके पीछे उसकी कोई प्रदर्शन-वृत्ति नहीं रहती, अपितु उस आत्मतत्त्व की अनुभूति में स्थित होने के कारण उसे सर्वत्र परमात्म-बुद्धि हो जाती है और वही उसे सबके प्रति भेदभावरहित व्यवहार करने की प्रेरणा देती है।

○

श्रीरामकृष्ण-शिष्य पल्टू

स्वामी विमलात्मानन्द

(रामकृष्ण मठ, बेलुड़ मठ, हावड़ा)

(लेखक का प्रस्तुत लेख 'उद्‌बोधन' बँगला मासिक से साभार गृहीत और अनूदित हुआ है। अनुवादक ब्रह्मचारी रामेश्वर रामकृष्ण मठ, बेलुड़ मठ के अन्तेवासी हैं। —स०)

जगन्माता भवतारिणी ने श्रीरामकृष्ण से कहा था, "तू और मैं एक हैं। तू जीवों के कल्याण हेतु भक्ति लेकर रह। भक्तगण आएँगे। तुझको फिर केवल विषयी लोगों को देखना न पड़ेगा; कई शुद्ध, कामनाहीन भक्त हैं, वे लोग आएँगे।" दक्षिणेश्वर के देवालयों में सन्ध्यारती के समय जब झाँझ-घण्टे बजते, तब 'कोठी' की छत पर से श्रीरामकृष्ण उच्च स्वर से पुकारते, "अरे भक्तो, तुम लोग कौन कहाँ हो, शीघ्र आओ।"

श्रीरामकृष्ण के आकुल आह्वान से गृही तथा युवा भक्तों ने एक-एक करके १८८१ ई. से दक्षिणेश्वर आना शुरू किया। १८८५ ई. में कई बालक भक्तगण आये— सुबोध, छोटा नरेन्द्र, पल्टू, पूर्ण, नारायण, तेजचन्द्र और हरिपद। श्रीरामकृष्ण के कई भक्तों के सम्बन्ध में हमें कोई जानकारी नहीं है। ऐसे ही एक बालक भक्त पल्टू का संक्षिप्त परिचय इस लेख में देने की चेष्टा की गयी है।

पल्टू पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा प्रतिष्ठित बागबाजार के मेट्रोपोलिटन इंस्टीट्यूट के छात्र थे। उनका घर बागबाजार अंचल के कम्बुलियाटोला में था, जो वर्तमान में 'हेमचन्द्र कर लेन' के नाम से जाना जाता है। तेजचन्द्र, नारायण, हरिपद, विनोद, छोटा नरेन आदि बागबाजार के कई लड़के, जिनमें कई श्रीरामकृष्ण के भक्त

थे, इसी विद्यालय के छात्र थे। बाबूराम (परवर्तीकाल में स्वामी प्रेमानन्द) एवं सारदाप्रसन्न (परवर्तीकाल में स्वामी त्रिगुणातीतानन्द) भी इसी विद्यालय में पढ़ते थे। प्रधानाध्यापक थे 'लड़का भगानेवाले मास्टर' श्री 'म'। श्री 'म' ने ही इन ईश्वरानुरागी तथा शुद्ध सात्त्विक लड़कों को श्रीरामकृष्ण के पवित्र चरणों-तले पहुंचाया था और वे लोग भी श्रीरामकृष्ण के पुण्यदर्शन से धन्य हुए थे।

पल्टू का असली नाम था—प्रमथचन्द्र कर। वे पिता हेमचन्द्र तथा माता कृष्णभाविनी के तृतीय पुत्र थे। पल्टू के अन्य चार भाई थे—अतुलचन्द्र, नवीनचन्द्र, शरत्चन्द्र तथा नरेशचन्द्र एवं तीन बहनें थीं—भवतारिणी, आतर-मणि तथा त्रैलोक्य-तारिणी[1]। हेमचन्द्र ने सर्वप्रथम दरोगा, फिर डिपुटी मजिस्ट्रेट एवं डिपुटी कलेक्टर के रूप में ख्याति प्राप्त की थी। उन्होंने भारत के विभिन्न स्थानों पर दक्षतापूर्वक कार्य किया था। स्त्री-शिक्षा के प्रति उनका प्रबल अनुराग था। अपनी लड़की को 'बेथून स्कूल' में भेजकर वे इस विषय में अग्रणी हुए थे। हेमचन्द्र ने भी श्रीरामकृष्ण का दर्शन-लाभ किया था। पर वे मानी व्यक्ति

पल्टू

१. प्रफुल्लचन्द्र कर : 'कम्बुलियाटोलार कर-वंशेर इतिवृत्त', पृ. ५९।

थे। इस सम्बन्ध में बाद में श्रीरामकृष्ण ने श्यामपुकुर में भक्त श्याम बसु से कहा था, "हेम दक्षिणेश्वर जाया करता था। मुलाकात होते ही मुझसे पूछता, 'क्यों भट्टाचार्य महाशय, संसार में एक ही वस्तु है—मान, क्यों?'"[२] माता कृष्णभाविनी कुम्हारटोले के विख्यात मित्र-वंश के भैरव मित्र की कन्या थीं। पल्टू का जन्म १८६४ ई. में मेदिनीपुर जिले के गड़बेता नामक स्थान में हुआ था। उस समय हेमचन्द्र वहाँ के डिपुटी मजिस्ट्रेट थे। मेट्रोपोलिटन विद्यालय में पढ़ाई समाप्त कर पल्टू असेम्बली इंस्टीट्यूट (वर्तमान में स्काटिश चर्च कालेज) में भर्ती हुए। यहाँ से १८८५ ई. में उन्होंने बी.ए. पास किया। बाद में कलकत्ता विश्वविद्यालय से उन्होंने एम.ए. की डिग्री प्राप्त की थी।

'श्रीरामकृष्णवचनामृत' में पल्टू का प्रथम उल्लेख १८८४ ई. के २६ अक्तूबर को है।[3] छोटा नरेन, विनोद, हरिपद आदि भक्तों के साथ वे दक्षिणेश्वर गये थे। इस प्रकार से पल्टू ने श्रीरामकृष्ण का दर्शन कुल मिलाकर सात बार किया था। दक्षिणेश्वर तथा कलकत्ते में भक्तों के घर पर उपर्युक्त तिथि के अलावा श्रीरामकृष्ण के साथ उनकी मुलाकात की तिथियाँ थीं—१८८५ ई. का ७ मार्च, ६ एवं १२ अप्रैल, ९ एवं २३ मई तथा २३ अक्तूबर। प्रथम दर्शन का वर्णन 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' में इस प्रकार किया गया है—

आइलो प्रमथचन्द्र अति चमत्कार।
बालक बयेस ताँर बाप मजिस्टर॥

२. 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', ३/२२/४।
३. 'वचनामृत', २/२९/१।

गण्यमान्य जाना नाम हेमचन्द्र कर ।
श्रद्धा भक्ति छिलो बहु प्रभुर उपर ।।[४]

श्रीरामकृष्ण पल्टू से अत्यधिक स्नेह करते थे, क्योंकि शुद्धात्माओं में ईश्वर का अधिक प्रकाश होता है । पल्टू का ध्यान जमता नहीं है, इसलिए भक्तों के समक्ष श्रीरामकृष्ण उद्वेग प्रकट करते हुए कह रहे हैं, "अच्छा, सभी कहते हैं कि ध्यान खूब जमता है, तो फिर पल्टू का ध्यान क्यों नहीं जमता ?"[५] एक दिन विनोदप्रिय श्रीरामकृष्ण बालकों के साथ आनन्द कर रहे थे । वे उन लोगों को कीर्तन गानेवाली के नाज-नखरे दिखा रहे थे । कीर्तन गानेवाली सज-धजकर अपने साथियों के साथ गा रही है । वह हाथ में रंगीन रूमाल लिए हुए खड़ी है; बीच-बीच में खाँसने का ढोंग कर रही है और नथ उठाकर थूक रही है । गाते समय अगर किसी विशिष्ट व्यक्ति का आगमन होता है, तो वह गाते हुए ही उसकी अभ्यर्थना के लिए 'आइए, बैठिए' आदि शब्दों का प्रयोग करती है । फिर कभी कभी हाथ का कपड़ा उठाकर पहुँची, बाजूबन्द और तावीज दिखाती है ।

उनका यह अभिनय देख भक्तगण ठहाका मारकर हँसने लगे । पल्टू तो हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये । श्रीरामकृष्ण पल्टू की ओर देखकर मास्टर से कहने लगे, "बच्चा है न, इसीलिए लोट-पोट हुआ जा रहा है ।" (पल्टू से, हँसकर) "ये सब बातें अपने बाप से न कहना । नहीं तो जो कुछ लगन (मेरे पास आने के लिए) है, वह न रह जाएगी । एक तो ऐसे ही वे लोग इंग्लिशमैन हैं ।" उसी दिन

४. अक्षयकुमार सेन : 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि', बगाब्द १३८८, पृ. ४०९ ।

५. 'वचनामृत', ३/३/३ ।

भावावस्था में श्रीरामकृष्ण ने भक्तों की आध्यात्मिक उन्नति की बात कही थी। पल्टू के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था, "तेरी भी मनोकामना सिद्ध होगी; परन्तु कुछ समय लगेगा।"[६]

पल्टू के घर के लोग श्रीरामकृष्ण के साथ उनका मिलना-जुलना पसन्द नहीं करते थे। किन्तु पल्टू इसकी परवाह नहीं करते और श्रीरामकृष्ण के संग का लाभ उठाया करते। एक दिन श्रीरामकृष्ण बलराम मन्दिर में आये। पल्टू का घर बिलकुल करीब था। अतः उनका दर्शन किये बिना पल्टू नहीं रह पाये, घर से भागकर श्री-रामकृष्ण के पास आ उपस्थित हुए। श्रीरामकृष्ण भी खूब खुश हुए। हँसते-हँसते उन्होंने पल्टू से पूछा, "तूने अपने बाप से क्या कहा?" (मास्टर से) "सुना, उसने यहाँ आने की बात पर अपने बाप को जवाब दे दिया।" (पल्टू से) "क्यों रे, क्या कहा?"

पल्टू—"मैंने कहा, हाँ, मैं उनके पास जाया करता हूँ, तो यह कौन-सा बुरा काम है? (श्रीरामकृष्ण और मास्टर हँसे।) अगर जरूरत होगी तो और भी इसी तरह की सुनाऊँगा।"[७]

और एक दिन श्रीरामकृष्ण बलराम मन्दिर में भक्तों के साथ बैठे हुए थे। नरेन्द्रनाथ तथा गिरीश घोष में तर्क-वितर्क चल रहा था। विषय था—ईश्वर मनुष्य होकर आते हैं या नहीं। पल्टू भी उपस्थित थे। सभी ध्यान से सुन रहे थे। तर्क के दरम्यान देवताओं के अमरत्व की बात उठी। नरेन्द्रनाथ ने गिरीश से इसका प्रमाण

६. वही, ३/८/२।
७. वही, ३/६/१।

प्रस्तुत करने को कहा । पल्टू हँसकर नरेन्द्रनाथ से बोले, "अमर होने के लिए अनादि की क्या जरूरत है ? उसके लिए अनन्त होना चाहिए ।" हँसते-हँसते श्रीरामकृष्ण ने कहा, "नरेन्द्र वकील का लड़का है, पल्टू डिप्टी का लड़का है ।"[८]

श्रीरामकृष्ण की इहलीला समाप्त होने के बाद पल्टू ने उनके संन्यासी शिष्यों से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं किया था, बल्कि उन लोगों के साथ आजीवन सम्बन्ध बनाये रखा था । परवर्तीकाल में पल्टू ने कानून के क्षेत्र में प्रवेश कर ख्याति प्राप्त की थी । सर्वप्रथम घोष एण्ड घोष कम्पनी में सहायक के रूप में कार्य करने के बाद १८९१ ई. के २६ अप्रैल से उन्होंने पूर्ण रूप से अपना वकालती पेशा शुरू कर दिया । बाद में घोष एण्ड घोष कम्पनी का अधिकार उन्हीं के हाथों में आया । उस समय पार्टनरशिप में कम्पनी का नया नाम उन्होंने 'कर मेटा एण्ड कम्पनी' रखा । रामकृष्ण मठ-मिशन को जब कभी कानूनी परामर्श की आवश्यकता पड़ती थी, पल्टू आनन्दपूर्वक वह देते थे । स्वामीजी ने १९०१ ई. की ६ फरवरी को मठ के न्यास-पत्र का पंजीकरण करवाया था । इस पंजीकरण के समय पल्टू केवल साक्षी ही नहीं थे, बल्कि इसे तैयार करने में भी उनकी प्रमुख भूमिका थी ।

हावड़ा जिले के खोड़पेर (आन्दुल के नजदीक) नामक स्थान के निवासी गिरीन्द्र बसुमल्लिक की कन्या सरयूबाला के साथ पल्टू ने विवाह किया था । उन्हें बिजन नाम का एक पुत्र था तथा कमलाबाला एवं स्वर्णलता

---

८. ३/९/२ ।

नाम की दो कन्याएँ । कम्बुलिया टोले के अपने पैतृक निवासभवन को त्यागकर वे इलिसियास रोड एवं लैंस-डाउन रोड स्थित किराये के मकान में चले आये थे । बाद में ७/१ हेसम रोड पर उन्होंने अपना मकान बनवाया था । वे १९२८ ई. में सपरिवार इस मकान में आ गये थे तथा मृत्युपर्यन्त यहीं रहे थे ।

पल्टू का एकमात्र पुत्र विजन यक्ष्मा रोग से आक्रान्त हो गया । बिजन उस समय स्कूल का छात्र था तथा उसकी आयु उन्नीस वर्ष की थी । पल्टू ने उसकी चिकित्सा करने में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रखी । किन्तु दिनोंदिन बिजन मृत्यु की ओर बढ़ता जा रहा था । इससे पल्टू हताश हो गये । १९१३ ई. में चिकित्सकों के परामर्शानुसार वे बिजन को साथ ले सपरिवार वायु-परिवर्तन हेतु अलमोड़ा चले गये । महापुरुष महाराज[१] उस समय कनखल में थे । गुरुभाई के आह्वान की उपेक्षा नहीं कर सकने से वे पल्टू को सान्त्वना देने अलमोड़ा गये । उन्होंने अलमोड़ा से अपने एक पत्र में (१२-७-१९१३) लिखा था—" 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' में पल्टू का नाम सम्भवतः तुमने पढ़ा होगा । उनके १९ वर्ष के एकमात्र पुत्र ने अच्छी पढ़ाई-लिखाई की थी, किन्तु अदृष्टवश दुःसाध्य रोग से आक्रान्त हो गया है । कलकत्ता के प्रसिद्ध चिकित्सकों के परामर्श से गत अप्रैल महीने में पल्टू अपने पुत्र को लेकर यहाँ आ गये हैं । साथ में अन्य लोग—स्त्री, बहन, भानजे आदि—भी हैं । वे यहाँ अकेले थे, कोई कामकाज भी नहीं था, हमेशा दुश्चिन्ता में समय काट रहे थे । इसलिए उन्होंने मुझे कनखल पत्र दिया था ताकि मैं यहाँ आऊँ । उद्देश्य

१. श्रीरामकृष्ण के लीला-पार्षद स्वामी शिवानन्द ।

यही है कि ठाकुर के सम्बन्ध में बातचीत और शास्त्रादि की चर्चा करके दुर्भावना-दुश्चिन्ता को दूर करना तथा ऐसी कोशिश करना जिससे भक्ति-विश्वास बढ़े ।"[१०] इससे पल्टू की मानसिक अशान्ति कुछ अंशों में दूर हुई थी । उस समय उन्हें प्रायः प्रार्थना-रत तथा श्रीरामकृष्ण का स्मरण-मनन करते देखा जाता था । वहाँ वे लगभग आठ माह रहे थे । फिर कलकत्ता लौट आये थे । इस प्रकार बीमारी से भुगतकर बिजन ने १९१५ ई. में माया के बन्धन को छिन्न कर स्वधाम गमन किया था ।

एकमात्र पुत्र की अकाल-मृत्यु से पल्टू पुत्र-शोक के कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये । उस समय से यक्ष्मारोग-निवारणार्थ उन्होंने विभिन्न लोकहितैषी कार्यों में अपने आपको नियोजित किया । डा० विधानचन्द्र राय, डा० कुमुदशंकर राय आदि जनसेवी लोगों की सहायता से उन्होंने जादवपुर टी. बी. अस्पताल की स्थापना की । इसके लिए उन्होंने प्रचुर दान दिया था तथा साथ ही काफी अर्थ-संग्रह भी कर दिया था । वे इस अस्पताल के आजीवन ट्रस्टी थे । कार्शियांग में रायबहादुर शशिभूषण की सहायता से उन्होंने 'After Care Home for Tuberculosis Patients' नामक प्रतिष्ठान की स्थापना की थी । इसके लिए भी उन्होंने काफी रुपये दान में दिये थे । बाद में यही प्रतिष्ठान 'S B. Sanatorium' नामक एक विराट् अस्पताल में परिणत हुआ ।

पल्टू शिक्षा और साहित्य के प्रेमी थे । कलकत्ता विश्वविद्यालय की उन्नति में उनका बहुत बड़ा योगदान

---

१०. 'महापुरुषजीर पत्रावली', बंगाब्द १३८७, पृ. ६७ ।

था। बंगीय साहित्य परिषद् के वे सक्रिय सदस्य थे। वे अतिथिपरायण, गरीबों के सेवक तथा आर्तों के प्रति हृदय-वान् थे। स्पष्टवादी होने के कारण लोग उन्हें समझने में भूल कर बैठते। देशबन्धु चितरंजन दास, डा० नीलरतन सरकार, सर अतुलचन्द्र आई. सी. एस., ज्ञानेन्द्रनाथ घोष आई. सी. एस., एकाउन्टैन्ट जनरल उपेन्द्रनाथ मजूमदार आदि प्रसिद्ध लोग उनके मित्र थे। देशबन्धु ने जब अपनी सारी सम्पत्ति देशवासियों के हाथों सौंप दी, तब वे पल्टू का आतिथ्य स्वीकार कर उन्हीं के घर पर रहते थे।

पल्टू का अन्त समय आ गया। वे अपने घर में मृत्यु-शय्या पर पड़े थे। 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' पढ़कर सुनाया जा रहा था। अन्त समय में स्वामी विवेकानन्द की देह पर जो शाल थी, उसे पल्टू ने अपने पास सहेजकर रखा था।[११] वे उसका बारम्बार स्पर्श कर रहे थे। २ अगस्त १९३७ को श्रीरामकृष्ण का नाम सुनते-सुनते तथा उनका स्मरण करते-करते पल्टू ने इहलोक त्याग दिया। 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका ने अपने नवम्बर १९३७ के अंक में उनकी मृत्यु पर शोक व्यक्त करते हुए लिखा था—"The Ramakrishna Math and Mission used to count him as one among its sincerest friends and well wishers. We deeply mourn his loss and offer our sincere condolences to the bereaved family"—'वे रामकृष्ण मठ और मिशन के नजदीकी मित्रों और हितैषियों में से थे। उनके निधन से हमें गहरी क्षति पहुँची है और हम शोक-सन्तप्त परिवार के पास अपनी आन्तरिक संवेदना ज्ञापित करते हैं।'

○

११. पल्टू के देहत्याग के बाद उनके पौत्रों ने वह शाल विवेकानन्द सोसायटी, कलकत्ता को प्रदान कर दी।

माँ के सान्निध्य में (११)

स्वामी अरूपानन्द

(प्रस्तुत संस्मरण के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी श्री माँ सारदा के शिष्य एवं सेवक थे। मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के वनवासी सेवा केन्द्र, नारायणपुर, जि. बस्तर के संचालक हैं। —स०)

१-५-१९१२, वैशाख पूर्णिमा, उद्बोधन

सबेरे माँ को चिट्ठियाँ पढ़कर सुनाने गया। माँ अपने कमरे के दाहिनी ओर के कमरे में उत्तरी दरवाजे के पास बैठी थीं। मैंने ठाकुरघर से निकलकर माँ से कोई एक बात पूछी। माँ ने कहा, "इधर आकर बैठकर बात करो।" मैं जाकर बैठ गया।

मैं—एक भक्त की लड़की ने यहाँ आने के लिए अपनी ससुराल से चिट्ठी लिखी है। उसने प्रणाम कहा है और लिखा है कि उसके चिट्ठी लिखने की बात ससुराल-वाले जानने न पाएँ।

माँ—रहने दो, उसे उत्तर देने की कोई आवश्यकता नहीं। घर के लोग जानने न पाएँ! मैं इतनी लुका-छिपी नहीं जानती। जयरामवाटी में योगेन्द्र (चपरासी) चिट्ठी का जवाब लिख देता था। कई लोग कहते—'चपरासी चिट्ठी पढ़ता है, जिस-तिससे चिट्ठी पढ़वाती हैं।' तो क्या हो गया? मेरे पास कोई छल-छिद्र नहीं है। मेरी चिट्ठी है, जिसे चाहूँगी दिखाऊँगी।

एक भक्त ने लिखा है कि माँ जयरामवाटी कब आएँगी। मैंने माँ से कहा, "उसे लिख दूँ कि अगहन महीने में जगद्धात्री-पूजा के समय जाएँगी?"

माँ—न, न, वह सब क्या अभी से ठीक कहा जा सकता है ? कब कहाँ रहती हूँ, सब उन्हीं के हाथ में है। मनुष्य तो अभी है और अभी नहीं।

मैं—तुम ऐसा क्यों कहती हो ? तुम हो इसलिए इतने लोग आते हैं और शान्ति पाते हैं।

माँ—ठीक कहते हो।

मैं—तुम हम लोगों के लिए रहो।

माँ भक्तों के लिए रुआँसी हो करुण स्वर में कहने लगीं, आँखें छलछला उठीं—"अहा, ये लोग मुझे जितना चाहते हैं, मैं भी उन्हें उतना ही चाहती हूँ।" मैं उन्हें पंखा झल रहा था। वे करुण स्वर में कहने लगीं, "आशीर्वाद देती हूँ, बेटे, जीते रहो, भक्ति हो, शान्ति में रहो—शान्ति ही मुख्य वस्तु है, शान्ति ही चाहिए।"

मैं—माँ, मेरे मन में केवल यही बात उठती है कि ठाकुर के दर्शन क्यों नहीं होते ? जब वे इतने अपने हैं तथा इच्छा मात्र से ही दर्शन दे सकते हैं, तब वे दर्शन क्यों नहीं देते ?

माँ—सही है, इतने दुःख-कष्ट में भी वे दर्शन क्यों नहीं देते, यह भला कौन जाने ? राम की माँ (बलराम बाबू की पत्नी) बीमार थी। ठाकुर ने मुझसे कहा, 'जाओ, देख आओ।' मैंने कहा, 'कैसे जाऊँ ? गाड़ी-वाड़ी तो नहीं है।' ठाकुर ने कहा, 'मेरे बलराम का संसार डूबा जा रहा है और तुम नहीं जाओगी ? पैदल जाना। पैदल चली जाओ।' बाद में पालकी का प्रबन्ध हो गया। मैं दक्षिणेश्वर से गयी। दो बार जाना हुआ था। और एक बार जब मैं श्यामपुकुर में थी, तब रात में पैदल चलकर राम की

बीमार माँ को देखने गयी थी। देखो, उसी बलराम का नाती उस दिन (निताई बाबू की माँ के श्राद्ध के दिन) मर गया। एक दिन भी क्या आगे-पीछे होने से नहीं होता था? वे यदि ऐसी विपत्ति में न देखें, दर्शन न दें, तो व्यक्ति कैसे रह पाएगा?

मैं—शरीर धारण करने से दुःख-कष्ट तो होगा ही। मैं उन्हें दुःख दूर करने के लिए नहीं कहता। पर क्या वे दुःख-कष्ट के समय दर्शन देकर दिलासा भी नहीं दे सकते?

माँ—ठीक कहते हो, बेटा। राम की माँ, राम की स्त्री ये लोग सब यहाँ आये। उन्होंने सोचा कि माँ के पास जाएँ। यहाँ आने से उन्हें फिर भी कुछ शान्ति मिली।* इसीलिए मैं ठाकुर से यह सब कहती। वे कहते, 'मेरे तो सब लाखों में हैं। सब मेरे (बकरे) हैं। मैं उन्हें पीछे से काटूँ या पूँछ में काटूँ और मारूँ, मेरी मर्जी।'

मैं—हम लोग जो कष्ट पाते हैं, उधर क्या वे देखेंगे भी नहीं?

माँ—तुम्हारे जैसे तो उनके कितने ही हैं। वे कहते थे, यह 'चिदानन्द सागर' है। इसमें कितने ही डूबते और उतराते हैं। इसका कोई कूल-किनारा नहीं है।

मैं—माँ, जो लोग ऐसी झुग्गी-झोंपड़ियों में रहने-वाले लोगों की तरह हैं (उस समय 'उद्‌बोधन' के सामने

*रामबाबू के एकमात्र पुत्र की मृत्यु के पश्चात् ये लोग माँ के पास आये थे। और जब माँ से सान्त्वना प्राप्त कर चले गये, तो माँ ने कहा, "पेट का बच्चा रक्त-मांस के शरीर से निकलता है न, इसीलिए इतना मोह होता है। माताओं को ही जितने सब कष्ट हैं। माया भला जाए कैसे?"

झुग्गी-झोंपड़ियाँ थीं), वे बड़े मजे में रहते हैं। किन्तु जिन्हें थोड़ा होश आ जाता है तथा जो उन्हें पाना चाहते हैं, उन्हें यदि उनका दर्शन न मिले तो उन पर क्या गुजरती है, वे ही जानते हैं।

माँ—हाँ, सही बात है। वे लोग मजे में हैं, खाते-पीते और मौज करते हैं। भक्तों को ही जितने सारे कष्ट हैं।

मैं—क्या इन लोगों (भक्तों) का दुःख-कष्ट देखकर तुम्हें पीड़ा नहीं होती ?

माँ—मुझे पीड़ा क्यों ? जिनका संसार है, वे ही देख रहे हैं।

मैं—भक्तों के लिए क्या तुम्हारी आने की इच्छा नहीं होती ?

माँ—शरीर-धारण में कितना कष्ट है ! इसलिए बस अब और नहीं। और न आना पड़े, बाबा ! ठाकुर की बीमारी के समय दुर्गाचरण (नागमहाशय) तीन दिनों तक बिना कुछ खाये-पीये खोज करके आँवला ले आया। ठाकुर की आँवला खाने की इच्छा हुई थी। ठाकुर ने उसे प्रसाद देने के लिए उस दिन काफी मात्रा में भात खाया। मैंने कहा, 'यह तो अच्छा भात खा रहे हो, तब और सूजी (खीर) खाने की क्या जरूरत ? थोड़ा थोडा करके भात ही खाना।' ठाकुर ने कहा, 'नहीं, नहीं, अन्तिम अवस्था में यह भोजन ही ठीक है।' किसी किसी दिन नाक से, गले से सूजी की खीर बाहर निकल पड़ती। उन्हें असह्य वेदना होती। ओह ! तारकेश्वर में बाबा भोलेनाथ के पास मैं मन्दिर में धरना देने गयी थी, पर उससे भी कुछ नहीं हुआ। एक दिन बीता, दूसरा दिन बीता, वहाँ पर बिना

खाये-पीये पड़ी रही । पर रात में एक आवाज सुनकर चौंक उठी—जैसे बहुत सी हण्डियाँ रखी हुई हों और कोई चोट करके हण्डी को फोड़ दे—वैसी ही आवाज । जागने पर हठात् मेरे मन में विचार कौंधा, 'इस संसार में कौन किसका पति है ? इस संसार में भला कौन किसका है ? मैं यहाँ किसके लिए अपने प्राण त्यागने बैठी हूँ ?' एकबारगी सारी माया नष्ट हो गयी और मन वैराग्य से भर उठा । मैंने उठकर अँधेरे में टटोलते-टटोलते मन्दिर के पीछे स्थित कुण्ड से जल लेकर आँख और मुँह में छींटे दिये और थोड़ा सा पानी लेकर पिया । बिना खाये-पीये बैठी थी न, इसीलिए प्यास के मारे गला सूख गया था । इससे प्राणों में थोड़ी चेतना लौटी । उसके दूसरे दिन ही वापस लौट आयी । आते ही ठाकुर ने पूछा, 'क्यों जी, कुछ हुआ ? कुछ भी नहीं न !' ठाकुर ने भी स्वप्न देखा था कि एक हाथी दवाई लाने को गया । वह हाथी दवाई निकालने के लिए मिट्टी खोदने लगा । ऐसे समय में गोपाल ने आकर उनका स्वप्न भंग कर दिया । ठाकुर ने मुझसे पूछा था, 'तुम सपना-वपना देखती हो ?'

"मैंने देखा था कि माँ-काली गर्दन झुकाए खड़ी हैं । मैंने पूछा, 'माँ, तुमने ऐसा क्यों कर रखा है ?' माँ-काली ने कहा, 'उसके इसके (ठाकुर के गले के घाव को दिखाकर) कारण मेरे भी ऐसा हुआ है ।' ठाकुर बोले, 'जो भुगतने का था, सब मेरे ऊपर से ही गुजर गया । तुम लोगों में किसी को अब कष्ट-भोग नहीं करना पड़ेगा । संसार के सब लोगों के लिए मैंने ही भुगत लिया है ।' गिरीश के पाप को ग्रहण करने के कारण ही उन्हें यह व्याधि हुई थी । गिरीश को भी अन्तिम समय में भुगतना

पड़ा था ।

"जो कुछ भोग है, सब यहीं (पृथ्वी में ही) तो है । और कहाँ क्या है ? जीव अहंकार के कारण भुगत-भुगतकर अन्त में जब धनुए के हाथ में पड़ता है, तभी 'तुहूँ तुहूँ (तू ही, तू ही) की रट लगाता है ।"

मैं—तो यहाँ के पश्चात् क्या तुम्हें हम लोगों की याद रहेगी ?

माँ—हो सकता है, वहाँ के आनन्द को पाकर याद न बनी रहे । बेटा, काल ही प्रधान है । काल के वशीभूत हो क्या होगा यह भला कौन जान सकता है ?

मैं—काल के वशीभूत भी हो रहा है, फिर कालजयी भी तो है ?

माँ—हाँ, वह भी है ।

मैं—माँ, तुम स्वस्थ रहो, बस उसी से सब ठीक रहेगा ।

आठ बज गये । माँ ने पूछा, "क्या आठ बज गया ? लगता है बज गया । बेटा, मैं पूजा करने जाती हूँ ।"

यह कहकर वे उठीं और कहने लगीं, "और बेटा, आशीर्वाद करो, जिससे स्वस्थ रहूँ ।"

पूजा हो जाने के बाद मैं माँ की चिट्ठियाँ पढ़कर उन्हें सुनाने के लिए गया । उनके कृपाप्राप्त किसी भक्त को काशी में मुक्तिलाभ होने की बात सुनकर माँ ने कहा, "मरना तो होगा ही सबको एक दिन । वह कहाँ किस तालाब-तलैया के किनारे मरता, यह न होकर उसकी काशी में मृत्यु हुई ।"

मामा लोगों के पत्र में धन की आकांक्षा तथा झगड़े-झंझट की बातें थीं। मैंने कहा, "उन लोगों को खूब रुपया-पैसा दो। ठाकुर से इसके लिए कहो। अच्छा सुख-भोग करें, जिससे विराग उत्पन्न हो।"

माँ—उन लोगों को कहीं विराग होगा? उन लोगों की किसी प्रकार निवृत्ति नहीं हो सकती। बहुत देने से भी नहीं। संसारी लोगों की क्या कहीं निवृत्ति होती है?

"उन लोगों के यहाँ बस दुःख का रोना है। काली (उनका एक भाई) केवल पैसे की ही रट लगाये हुए है। उसकी देखा-देखी अब प्रसन्न भी वैसा करने लगा है। पर वरदा कभी ऐसा नहीं करता। वह कहता है—दीदी भला कहाँ से पैसा पाएगी?"

मैं—क्या पगली नहीं माँगती?

माँ—उसे देने से भी वह नहीं लेती।

मैं—तुमने उन लोगों के यहाँ क्यों जन्म लिया।

माँ—क्यों? मेरे माता-पिता बहुत अच्छे जो थे! पिता बड़े राम-भक्त थे। बड़े नैष्ठिक थे। दूसरी जाति के हाथ का कुछ ग्रहण नहीं करते थे। माँ कितनी दयावती थीं। लोगों को कितना खिलाती-पिलातीं और उनकी देख-भाल करतीं। कितनी सरल थीं। पिता को तम्बाकू बहुत पसन्द थी। वे ऐसे सरल और निष्काम थे कि जो कोई भी घर के सामने से गुजरता, उसे बुलाकर बैठाते और कहते, 'आओ भाई, बैठो। तम्बाकू पी लो।' और यह कह खुद ही चिलम में तम्बाकू भरकर पिलाते। माता-पिता की तपस्या नहीं होने से क्या (भगवान्) उनके यहाँ जन्म ग्रहण करते हैं?

२५-६-१९१२, उद्बोधन

सवेरे ठाकुरघर के पासवाले कमरे में माँ की तख्त के पास बैठकर उनसे बातचीत होने लगी।

मैं—माँ, कोई कोई कहते हैं कि साधु लोग यह जो मठ, सेवाश्रम, अस्पताल, पुस्तक-बिक्री तथा हिसाब-किताब का काम करते हैं, वह अच्छा नहीं है। ठाकुर ने क्या यह सब किया था? जो लोग व्याकुलता लेकर नये-नये मठ में आते हैं, उनके सिर पर ये सब काम मढ़ दिये जाते हैं। कर्म यदि करना है तो पूजा, जप, ध्यान, कीर्तन यही सब करना चाहिए। अन्य सब कर्म कामना को जन्म देकर व्यक्ति को ईश्वर से विमुख बना देते हैं।

माँ—तुम लोग उनकी बात नहीं सुनना। कर्म नहीं करोगे तो दिन-रात क्या लेकर रहोगे? चौबीसों घण्टे क्या ध्यान-जप किया जा सकता है? लोग ठाकुर का उदाहरण देते हैं। पर उनकी बात निराली है। उनके भोजन का प्रबन्ध मथुर करता था। यहाँ तुम लोग एक काम लेकर हो, इसीलिए खाना जुट रहा है। नहीं तो एक मुट्ठी अन्न के लिए कहाँ दर-दर घूमते फिरोगे? शरीर अस्वस्थ हो उठेगा। फिर आजकल साधुओं को कौन इतनी भिक्षा देता है? तुम लोग वैसी सब बातें नहीं सुनना। ठाकुर जैसा चला रहे हैं, वैसा ही चलेगा। मठ इसी प्रकार चलेगा। इसमें जो नहीं रह पाएगा, वह चला जाएगा।

"मणि मल्लिक ने आकर ठाकुर से साधु-दर्शन की बात कही थी। ठाकुर ने पूछा, 'क्यों जी, कैसे सब साधु देखे?' वह बोला, 'हाँ, देखा तो, पर—।' ठाकुर ने कहा,

'पर क्या ?' मणि मल्लिक ने कहा, 'सभी पैसा चाहते हैं।' ठाकुर बोले, 'भला कितना पैसा चाहेंगे ? ज्यादा हुआ तो एक पैसा—गाँजा या तम्बाकू पीने के लिए—बस इतना ही तो ? और तुम्हें अपने लिए घी की कटोरी, दूध की कटोरी, गद्दे—ये सब चाहिए, और उसके लिए जो शायद थोड़ी सी तम्बाकू या गाँजा पीना चाहें एक पैसा या धेला भी न मिले ? सब भोग तुम लोग ही करोगे ? और वे एक पैसे की तम्बाकू पीने के भी हकदार नहीं ?' "

मैं—कामना के फलस्वरूप ही भोग होता है। चार-मंजिले मकान में रहने पर भी जिसके हृदय में कामना नहीं है, उसके लिए कुछ नहीं है और अगर कामना रहे तो वृक्ष-तले रहने से भी सब भोग आ जुटेंगे। ठाकुर कहते थे, 'महामाया की लीला ऐसी है कि जिसके तीन कुल का कोई नहीं है, उसके द्वारा भी एक बिल्ली पोसवाकर संसार कराएगी।'

माँ—ठीक कहते हो, कामना के कारण ही सब है। कामना न रहे तो फिर बात ही क्या ? मैं यह सब लेकर तो हूँ, पर कहाँ, मुझमें तो कोई कामना उठती नहीं, जरा भी नहीं।

मैं—तुममें भला कामना कैसे ? माँ, हम लोगों के भीतर कितनी तुच्छ वासनाएँ उठती हैं, वे सब कैसे दूर होंगी ?

माँ—तुम लोगों के असल में कोई वासनाएँ नहीं हैं। वे सब कुछ नहीं हैं। वे सब मन की तरंगें हैं, यों ही उठती हैं और चली जाती हैं। वे सब जितनी निकल जायें उतना

ही अच्छा है।*

मैं—कल बैठे बैठे मैं सोच रहा था कि यदि भगवान् रक्षा न करें, तो मन के साथ भला कब तक लड़ाई की जा सकती है ? एक वासना जाती है तो दूसरी उठ खड़ी होती है।

माँ—जब तक 'मैं' है, तब तक वासना रहेगी ही। उन सब वासनाओं से तुम लोगों का कुछ नहीं होगा। वे ही रक्षा करेंगे। जो उनके प्रति शरणागत हैं, सब कुछ छोड़ जिन्होंने उनका आश्रय लिया है, जो अच्छे बनने की इच्छा रखते हैं, उनकी रक्षा यदि वे न करें, तो यह तो उनके लिए ही महापाप होगा। उनके ऊपर आश्रित होकर रहना चाहिए। वे चाहे अच्छा करें या डुबाएँ। फिर भी सत्कर्म करते रहना चाहिए और वह भी जितनी शक्ति वे दें उसके अनुरूप।

मैं—मुझमें वह निर्भरता कहाँ है ? हो सकता है थोड़ी बहुत हो, पर वह फिर दूर हो जाती है। यदि वे स्वयं रक्षा न करें, तो उपाय कहाँ ? मन में सोचता हूँ, माँ, अभी तो तुम हो, जो भी दुःख हो, कष्ट हो, तुम्हारे पास आकर कहता हूँ और तुम्हारा मुँह जोहकर शान्ति पाता हूँ। इसके बाद कौन रक्षा करेगा ? यदि तुम सुध लो तभी तो होगा ?

*किसी त्यागी भक्त ने माँ से पूछा था, "माँ, साधन-भजन तो कर रहा हूँ, प्रयास में भी कोई कसर नहीं रखी है, पर फिर भी मन का मैल मानो दूर नहीं हो रहा है।" माँ ने कहा, "धागा बँटते समय लाल, काले, सफेद धागों का जैसा क्रम रहेगा, उसे खोलते समय धागे उसी क्रम से निकलेंगे तो ?"

माँ—डर किस बात का है, बेटा ? तुम्हें डरने की कोई आवश्यकता नहीं। तुम लोगों के तो संसार, परिवार, बाल-बच्चे ये सब कुछ होंगे नहीं, फिर तुम लोगों को डर की क्या बात ? और फिर इस बीच मेरे रहते तुम लोग सब तैयार हो जाओगे।

मैं—सोचता हूँ, यदि भगवान् सुध न लें तो जप-तप से ही क्या होगा ? वे यदि रक्षा करें, तभी रक्षा है।

माँ—नहीं, तुम्हें कोई भय नहीं। वे रक्षा करेंगे। तुम कोई सोच मत करो।

७-७-१९१२, उद्बोधन

मैं—माँ, क्या रथयात्रा के समय तुम्हारे पुरी जाने की बात थी ?

माँ—भीड़ के समय क्या वहाँ जाना ठीक रहता ? उस समय हैजे-वैजे की शिकायत बनी रहती है। पण्डा लक्ष्मीकान्त बोला, "सब कमरे और घर पहले से ही भाड़े पर उठ गये हैं। अब ठहरने की कोई जगह नहीं है। छोटे छोटे कमरे तक दस-दस रुपये में उठ गये हैं। कृपया शीतकाल में आइए।"

मैं—वहाँ किस विग्रह की पूजा होती है ?

माँ—मैंने सपने में देखा, वहाँ असल में शिव का विग्रह है !

मैं—तुमने वहाँ जगन्नाथ स्वामी का विग्रह नहीं देखा?

माँ—नहीं, मैंने केवल शिवजी का विग्रह देखा। देखा कि प्रभु जगन्नाथ शिव लक्ष शालग्राम से बनी वेदी पर विराजमान हैं। तभी तो हजारों भक्त मन्दिर में दर्शन करने आते हैं ! वहाँ विमला की भी मूर्ति है। महाष्टमी की रात्रि को उसके निमित्त विशेष भोग होता है। विमला

देवी दुर्गा का ही एक रूप है। अतः क्या यह स्वाभाविक नहीं कि शिव भी वहाँ विराजमान हों?

मैं—कुछ लोग कहते हैं कि पहले वह एक बौद्ध मन्दिर था और बुद्धदेव की प्रतिमा वहाँ प्रतिष्ठित थी। जब मन्दिर शंकराचार्य के अनुयायियों के हाथ लगा, तो उस प्रतिमा को शिव के प्रतीक में बदल दिया गया। उसके भी बाद जब मन्दिर वैष्णवों के कब्जे में आया, तो उन्होंने उसे श्रीजगन्नाथ-विष्णु की प्रतिमा में बदल दिया।

माँ—मैं यह सब नहीं जानती। पर मैंने तो शिवजी का ही विग्रह देखा।

मैं—मुसलमानों ने कितने मन्दिर, देवी-देवताओं की कितनी मूर्तियाँ खण्डित कर दीं! किसी मूर्ति की नाक तोड़ डाली तो किसी के कान।

माँ—इन मुसलिम आक्रान्ताओं के डर से श्रीगोविन्द-जी की मूर्ति को वृन्दावन से जयपुर ले गये। इससे वृन्दावन के पुजारी क्षुब्ध हो गये और विग्रह को वापस माँगने लगे। अन्त में उन्हें दैवी वाणी सुनाई पड़ी—"मूर्ति गयी है, मैं नहीं गया हूँ! दूसरी मूर्ति तैयार कर लो, मैं उसमें विराज-मान हो जाऊँगा!"

मैं—गुजरात में सोमनाथ का मन्दिर है। पुराने जमाने में पुजारी वहाँ के विग्रह को रोज गंगोत्री से लाये जल में नहलाते थे। लोग प्रतिदिन हिमालय से सिर पर जल के पात्र लेकर आते थे। सुल्तान महमूद ने विग्रह को नष्ट कर दिया और वह मन्दिर के चन्दन काष्ठ से बने दरवाजे को लूटकर ले गया। ऐसा क्यों होना चाहिए?

माँ—दुष्ट लोग मूर्ति में ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव नहीं कर पाते। मानो उनके सामने से देवता

अन्तर्धान हो जाता है । ईश्वर तो इच्छामात्र से जो चाहें कर सकते हैं । यह भी उनकी एक लीला है ।

मैं—क्या कर्म का फल नष्ट किया जा सकता है ? शास्त्र कहते हैं कि ज्ञान ही कर्म का नाश कर सकता है । फिर भी प्रारब्ध कर्म का भोग तो करना ही पड़ता है ।

माँ—कर्म ही हमारे सुख-दुःख का कारण है । यहाँ तक कि ठाकुर को भी कर्मफल का भोग करना पड़ा था । एक बार उनके अग्रज सन्निपात की अवस्था में पानी पी रहे थे । ठाकुर ने देखा तो झपटकर गिलास छीन लिया, वे थोड़ा-सा ही पी पाये थे । अग्रज रुष्ट हो गये, बोले, 'तूने मुझे पानी नहीं पीने दिया । तू भी ऐसा ही भुगतेगा । तुझे भी गले में ऐसी ही पीड़ा होगी ।' ठाकुर बोले, 'भैया, मैंने तुम्हें सताने के लिए तो ऐसा नहीं किया । तुम बीमार हो । पानी पीने से तुम्हारी तकलीफ बढ़ जाती, इसीलिए मैंने गिलास छीन लिया । और तुमने मुझे यों श्राप दे दिया ?' अग्रज रोते हुए बोले, 'भाई, मैं नहीं जानता कि क्योंकर मेरे मुँह से ऐसे शब्द निकल गये । उनका फल तो होगा ही ।' अपनी बीमारी के समय ठाकुर ने मुझसे कहा था, 'मुझे उस श्राप के कारण गले में कैंसर की यह बीमारी मिली है । तुम लोगों को अब भुगतना नहीं पड़ेगा, मैंने तुम सबके बदले भोग लिया ।' उत्तर में मैं बोली, 'अगर ऐसी बात तुम्हारे साथ घटती है, तब फिर साधारण आदमी कैसे जिन्दा बचेगा ?' ठाकुर बोले, 'मेरे अग्रज धर्मात्मा थे । उनके शब्द सत्य होंगे ही । क्या ऐरे-गैरे किसी की भी बात यों सच हो सकती है ?'

"कर्म का फल अनिवार्य है, पर भगवान् के नाम के प्रभाव से उसकी तीव्रता कम की जा सकती है । यदि तुम्हारे

भाग्य में पैर का कटना बदा हो, तो कम से कम पैर में काँटा चुभकर रह जाएगा। जप-तप के द्वारा कर्मफल को बहुत कुछ काटा जा सकता है। राजा सुरथ के साथ यही हुआ। उसने एक लाख बकरे की बलि देकर देवी की पूजा की थी। बाद में इन एक लाख बकरों ने तलवार के एक वार से ही राजा का काम तमाम कर दिया; उसे एक लाख बार जन्म लेने और मरने की नौबत नहीं आयी। यह देवी की पूजा का प्रभाव था। भगवान् के पावन नाम का गान कर्म के प्रभाव की तीव्रता को कम कर देता है।"

मैं—यदि ऐसा है तब तो इस जगत् में कर्म का नियम ही सर्वोपरि है। फिर ईश्वर में विश्वास करने का क्या प्रयोजन? बौद्ध लोग कर्म का विधान तो मानते हैं, पर ईश्वर को नहीं मानते।

माँ—क्या तुम्हारा यह मतलब है कि काली, कृष्ण, दुर्गा आदि देवी-देवता नहीं हैं?

मैं—क्या जप और तप से कर्मफल का नाश किया जा सकता है?

माँ—क्यों नहीं? सत्कर्म करना अच्छा है। अच्छा कर्म करने से व्यक्ति को सुख का अनुभव होता है और बुरा कर्म करने से वह दुःखी होता है।

○

विवेकानन्द जयन्ती समारोह-१९८८

—० कार्यक्रम ०—

सोमवार, ११ जनवरी

स्वामी विवेकानन्द का १२६ वां जन्म-तिथि उत्सव

मंगल आरती, प्रात:वन्दना और ध्यान ... प्रात: ५। से ६।। बजे तक
विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती ... प्रात: ७।। से १२ बजे तक
सान्ध्य आरती, प्रार्थना, भजन ... सायं ६ से ७।। बजे तक

मंगलवार, १२ जनवरी प्रात:काल ९ बजे

राष्ट्रीय युवा दिवस

(रविशंकर विश्वविद्यालय परिसर में)

शोभायात्रा, जनसभा एवं
स्वामी विवेकानन्द के प्रति युवाशक्ति की श्रद्धांजलियाँ

बुधवार, १३ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय:—"यदि स्वामी विवेकानन्द हमारी शिक्षा-नीति के निर्धारक होते"

गुरुवार, १४ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय:—"इस सदन की राय में छात्रसंघ के पदाधिकारियों का चुनाव कराने के बदले उन्हें नामजद करना छात्रों के लिए कहीं अधिक हितकर होगा।"

शुक्रवार, १५ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

शनिवार, १६ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यामिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय:—"इस सदन की राय में जीवन की पूरिपूर्णता धन से नही चरित्र से साधित होती है।"

रविवार, १७ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता
(रनिंग शील्ड)

विषय:—"स्वामी विवेकानन्द की हमसे अपेक्षाएँ"

सोमवार, १८ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता
(रनिंग शील्ड)

मंगलवार, १९ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता
(रनिंग शील्ड)

विषय:—"इस सदन की राय में घूस लेनेवाले की अपेक्षा घूस देनेवाला कहीं अधिक दण्डनीय है।"

बुधवार, २० जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता
(रनिंग शील्ड)

विषय:—"यदि आज स्वामी विवेकानन्द होते"

गुरुवार, २१ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तःप्राथमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता
(रनिंग शील्ड)

शनिवार, २३ जनवरी सायंकाल ७ बजे

मानस-गान मंचन
(रनिंग शील्ड)

(गुरु घासीदास के अनुयायियों एवं सहयोगियों की संयुक्त मानस-गान स्पर्धा में प्रथम पुरस्कार प्राप्त करनेवाले ग्राम के मानस-गान दल द्वारा)

रविवार, २४ जनवरी सायंकाल ७ बजे

पंडवानी
(छत्तीसगढ़ी में महाभारत कथा)
कथाकार: श्रीमती तीजनबाई
(अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त पंडवानी-गायिका)

सोमवार, २५ जनवरी सायंकाल ७ ब

विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्घाटन

२६ जनवरी से २९ जनवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ७ बजे

आध्यात्मिक प्रवचन

प्रवचनकार : श्री राजेश रामायणी

३० जनवरी से ८ फरवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ७ बजे

रामायण प्रवचन

प्रवचनकार : पण्डित रामकिंकरजी महाराज

○○○

श्री माँ सारदा देवी का १३५ वाँ जयन्ती महोत्सव

जन्मतिथि पूजा शनिवार, १२ दिसम्बर १९८७

(मन्दिर में कार्यक्रम)

मंगलारती, प्रातःवन्दना और ध्यान ... प्रातः ५। से ६।। बजे
विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती ... प्रातः ७।। से १२ बजे
सान्ध्य आरती, प्रार्थना, भजन ... सायं ६ से ७।। बजे

जन्मोत्सव सार्वजनिक सभा

(सत्संग भवन में)

रविवार, १३ दिसम्बर १९८७ सन्ध्या ५ बजे से

श्रीरामकृष्णदेव का १५३ वाँ जयन्ती महोत्सव

जन्मतिथि पूजा शुक्रवार, १९ फरवरी १९८

(मन्दिर में कार्यक्रम)

मंगलारती, प्रातःवन्दना और ध्यान ... प्रातः ५। से ६।।
विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती ... प्रातः ७।। से १२
सान्ध्य आरती, प्रार्थना, भजन ... सायं ६ से ७।।

जन्मोत्सव सार्वजनिक सभा

(सत्संग भवन में)

रविवार, २१ फरवरी १९८८ सन्ध्या ५ बजे